किरातार्जुनीयम्



॥ श्रीः ॥

हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला १०३

किरातार्जुनीयम्

'मल्लिनाथी' 'प्रकाश' टीकाद्वयोपेतम्

(परीक्षोपयोगि १–५ सर्गात्मकम्)



चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन
पोस्ट बाक्स संख्या ११३८
वाराणसी–२२१००१ (भारत)

मूल्यं ... ...

॥ श्रीः ॥

हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला

१०५

महाकवि श्रीभारविप्रणीतं

किरातार्जुनीयम्

महोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिकृतया 'घण्टापथ'
व्याख्यया, आदित्यनारायणपाण्डेयकृतया
'प्रकाश' हिन्दीव्याख्यया च
समुल्लसितम् ।

(परीक्षोपयोगि १–५ सर्गात्मकम्)



चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१

१९७७

प्रकाशक : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी

मुद्रक : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी

संस्करण : षष्ठ, वि० सं० २०३४

मूल्य :



K. 37/99, Gopal Mandir Lane

Post Box 8, Varanasi–221001 (India)

Phone : 63145

अपरं च प्राप्तिस्थानम्

चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन

के० ३७/११८, गोपाल मन्दिर लेन

पो० बा० १३८, वाराणसी–२२१००१ (भारत)

प्रस्तावना

महाकवि भारवि

विद्वत् शिरोमणि भारवि संस्कृत-साहित्य के एक प्रसिद्ध महाकवि हैं। कवियों की गणना इनका प्रमुख स्थान है। इनकी रचनाशैली अत्यन्त मनोहर और अर्थगौरव से पूर्ण है, आज भी 'भारवेरर्थगौरवम्' इस लोकोक्ति को चरितार्थ करती है। महाकवि भारवि चना-कार्य को अत्यन्त घृणित दृष्टि से देखते थे। इस विषय में महाकवि ने लिखा है— धेग्विभिन्नबुधसेतुमर्थिताम्'। महाकवि के प्राकृतिक वर्णन अतीव चमत्कारजनक हैं। पने प्रत्येक प्राकृतिक वर्णन की पूरी नैसर्गिकता का प्रदर्शन करने के लिये प्राकृतिक तुओं का सुन्दर चित्रण किया है। आपके सर्वतोभद्र आदि चित्र-काव्य और श्लेषात्मक ाक्षर द्व्यक्षर आदि श्लोक अतीव सुन्दर हैं, जिन्हें लेकर मल्लिनाथ ने कहा भी है—

'नारिकेलफलसंनिभं वचो भारवेः सपदि यद्विभज्यते।
स्वादयन्तु रसगर्भनिर्भरं सारमस्य रसिका यथेप्सितम् ॥'

आपको राजनीति का भी अधिक अनुभव था। आपकी वंशस्थवृत्ति को कवि क्षेमेन्द्र ने जोड़ बताया है।

समय-निर्णय

व्हियेना ओरिएण्टल सोसाइटी जनरल के तृतीय भाग के पृष्ठ १४४ में हरमैन कोबी महोदय ने षष्ठ शताब्दी का पूर्व भाग भारवि का समय लिखा है। सप्तम शताब्दी बाणभट्ट ने अपने हर्षचरित नामक ग्रन्थ में अपने से पूर्व काल के प्रायः समस्त कवियों ा नामोल्लेख किया है किन्तु भारवि का कहीं निर्देश नहीं किया। अतः बाणभट्ट के मत से सम शताब्दी से भी बाद के भारवि कहे जा सकते हैं। दुर्विनीत ने अपने किरातार्जुनीय ी व्याख्या के परिचय में भारवि का समय ५५०–६०० ई० कहा है। प्रोफेसर बलदेव पाध्याय ने अपने संस्कृत-साहित्य के इतिहास में भारवि का समय षष्ठ शताब्दी के गभग लिखा है। पण्डित सीताराम जयराम जोशी तथा विश्वनाथ शास्त्री भारद्वाज रा निर्मित संस्कृत-साहित्य के संक्षिप्त इतिहास में भारवि का समय षष्ठ शताब्दी का त्तरार्ध माना गया है। एहोल (Aihole) शिलालेख में रविकीर्ति ने कालिदास और भारवि ा उल्लेख किया है। इस शिलालेख का समय ६३४ ई० है। आज भी यह शिलालेख होल'ग्राम के जैन विहार में मिलता है। इस शिलालेख के आधार पर भारवि का समय ष्ठ शताब्दी का उत्तरार्ध मानना ही उचित होगा। सन् १९२४ में के० रामनाथ शास्त्री था रामकृष्ण कवि के द्वारा दक्षिण भारती ग्रन्थमाला के तृतीय पुष्प में प्रकाशित दण्डी

कवि प्रणीत 'अवन्ति सुन्दरी' के कथासार पृ० १-२२ में लिखा है कि भारवि अचलपुर के निवासी, कौशिक गोत्रोत्पन्न नारायण स्वामी के पुत्र दामोदरापर नामक दाक्षिणात्य ब्राह्मण और महाराज विष्णुवर्धन के समापण्डित थे। परन्तु अभी तक समस्त विद्वानों ने इसे मान्यता नहीं दी है। बहुतों का मत है कि भारवि दक्षिण भारत के निवासी थे और दण्डी के चतुर्थ पूर्वज दामोदर से उनकी घनिष्ठ मित्रता थी तथा वे दक्षिण भारत के चालुक्य वंशी महाराज विष्णुवर्धन के समापण्डित थे।

किरातार्जुनीय

किरातार्जुनीय में अट्ठारह सर्ग हैं। कविप्रोक्त महाकाव्य के लक्षण से युक्त होने के कारण यह महाकाव्य कहलाता है और यह बृहत्त्रयी काव्यों में अन्यतम माना जाता है। इसकी कथावस्तु महाभारतीय वनपर्व से ली गयी है। यह काव्य प्रथम में 'श्री' शब्द से विभूषित है। इसके प्रत्येक सर्गान्त में 'लक्ष्मी' शब्द का संनिवेश है। इस काव्य में इन्द्रकीलपर्वत पर दिव्य अस्त्रलाभ के लिये तपस्या करनेवाले पाण्डुपुत्र 'अर्जुन' और किराताधिपति भगवान् 'शंकर' का परस्पर युद्ध वर्णित है। कविने इसी युद्धको महत्त्व देकर काव्यको सुन्दर और विस्तृत बनाया है। किराताधिपति और अर्जुन के युद्ध की ही मुख्यता होने के कारण इस काव्य का नाम भी 'किरातार्जुनीय' पड़ा है। इस काव्य में राजनीति का प्रदर्शन करते हुए कवि ने साम, दाम, दण्ड और भेद का बहुत गम्भीरता से वर्णन किया है। भारतवर्ष की प्राचीन स्त्रियों का कितना गम्भीर विचार था यह द्रौपदी की उक्ति से स्पष्ट मालूम होता है। भारवि ने पात्र के अनुसार ही शब्दों का निवेश किया है यह भीमोक्ति से विदित होता है। विवेचना के विषय में किसी कार्य को करने से पहिले उसकी पूरी विवेचना करके ही उसको करने में प्रवृत्त होना चाहिये ऐसा युधिष्ठिर की उक्ति द्वारा कहा है :—

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः॥ (स० २, श्लो० ३०)

उपसंहार

इस काव्य में धीरोदात्त नायक है। इसमें अर्जुन नायक है और किराताधिपति शंकर प्रति नायक हैं। यह वीररस प्रधान काव्य है। इसमें दूतमुख कथन और किरातपति शंकर का वचन उद्दीपन विभाव, नायक और प्रतिनायक का धनुरादि आकर्षण आदि अनुभाव, धैर्य, क्षमादि व्यभिचारी भाव, उत्साह स्थायी भाव, शृङ्गारादि रस अङ्ग, पाञ्चाली रीति, प्रसाद गुण हैं। दिव्य पाशुपतास्त्रप्राप्ति इस महाकाव्य का फल है।

—

संक्षिप्त कथासार

प्रथम सर्ग

युधिष्ठिर के प्रति वनेचर की उक्ति

जब कि महाराज युधिष्ठिर जूये में हार जाने से भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा द्रौपदी के साथ द्वैतवन नामक जङ्गल में निवास करते थे, उस समय उन्होंने दुर्योधन का समाचार जानने के लिये एक वनवासी (किरात-वनेचर) को ब्रह्मचारी के वेष में भेजा था, वह सब हाल जानकर महाराज युधिष्ठिर के पास आया और कहने लगा—हे महाराज दुर्योधन इस समय राज्य का नीति-पूर्वक शासन कर रहा है, 'मैं राजा हूँ, मेरा यही धर्म है' ऐसा समझता हुआ शत्रु या पुत्र जो हो उसे धर्मशास्त्रानुसार दण्ड देता है। उसके यहाँ बड़े-बड़े राजा लोग आकर दरबार में कर देते हैं तथा जो आदेश करता है उसे सब पूरा करते हैं, उसके राज्य में सर्वत्र कृषि उत्तम रूप से होती है, और प्रजा प्रसन्नता से समय-समय पर कर देती है ' वह दुःशासन को युवराज बनाकर स्वयं यज्ञादि करता रहता है, इसलिये अब आप उसे जीतने के लिये कोई प्रबल उपाय करें। इसके बाद युधिष्ठिर महाराज ने उसे पारितोषिक देकर विदा करके उक्त समाचार भीमादि के सामने द्रौपदी से जाकर कहा, उसे सुनकर द्रौपदी ने कहा—

युधिष्ठिर के प्रति द्रौपदी की उक्ति

हे नाथ ! यद्यपि स्त्री का उपदेश पुरुषों के लिये अनादर सा होता है तथापि क्या करूँ मेरी आन्तरिक व्यथा मुझे कहने के लिये बाध्य कर रही है अतः आप क्षमा करियेगा। हे महाराज ! भला बताइये तो—आपके सिवाय कौन ऐसा राजा होगा जो—अपनी स्त्री के समान राजलक्ष्मी को दूसरे के अधीन कर देगा। हा ! देखिये ये वही भीम हैं जो पहले सुन्दर पलङ्ग पर सोते थे आज जमीन पर सोते हैं, और जिन्होंने उत्तर कुरु देश को जीत-कर बहुत सा स्वर्ण लाकर खजाने में रखा था वही अर्जुन आज वल्कल पहने हुए हैं और ये दोनों सुकुमार सुन्दर नकुल तथा सहदेव कठिन भूमि में सोते हैं। इन सबों को इन हालतों में देखकर भी आप धैर्य और सन्तोष को नहीं छोड़ते हैं यह बड़े आश्चर्य की बात है, आपकी दुर्दशा देखकर मुझे तो अत्यन्त दुःख हो रहा है।

हे महाराज ! आप अब शान्ति को छोड़कर शत्रुओं को नष्ट करने के लिये अपना पुराना तेज धारण करिये, क्योंकि शान्ति से मुनियों का कार्य होता है न कि राजाओं का, यदि आप शान्ति ही को सुख का साधन समझते हैं तो राज-चिह्न धनुषादि को त्यागकर जटा बढ़ाकर केवल मुनियों की भाँति अग्निहोत्र किया करें। हे महाराज ! सब प्रकार से

समर्थ होते हुए भी शत्रु-विजय के लिये आपका समय की प्रतीक्षा करते रहना उचित नहीं है क्योंकि विजय चाहने वाले राजा लोग समय पड़ने पर किसी न किसी व्याज से सन्धि को भी तोड़ देते हैं।

द्वितीय सर्ग

युधिष्ठिर के प्रति भीम की उक्ति

हे महाराज! शत्रु को बढ़ते हुए देखकर उसकी उपेक्षा करना अत्यन्त अनुचित है। यद्यपि आप इस समय क्षीण हैं तथापि जब उन्नति के लिये चेष्टा करेंगे तो प्रजा आपके उत्साह को देखकर आपको नमन करेगी, अतः आलस्य छोडकर पुरुषार्थ करिये। आपके दिग्विजयी चारों भाइयों के तेज को भला शत्रुओं के मध्य में कौन सह सकेगा। इस भाँति अत्यन्त क्रुद्ध भीमसेन की बातें सुनकर मतवाले हाथी की भाँति उन्हें धीरे-धीरे शान्त करने के लिए महाराज युधिष्ठिर चेष्टा करते हुए बोले—

भीम के प्रति युधिष्ठिर की उक्ति

हे भीम! तुमने जो कुछ कहा है, वह सब समयोचित शास्त्र-सङ्गत है परन्तु यदि इस समय नियम तोड़कर चढ़ाई न की जाय तो जितने राजा हैं वे सब अवधि के बाद हमारी सहायता करेंगे। अहङ्कारी मनुष्य की सेवा में जो लोग रहते हैं वे लोग जब समय पड़ता है तब उसे छोड़ देते हैं, क्योंकि उसके दुर्व्यवहार से मन में सभी अप्रसन्न रहते हैं। अतः जब तक अवधि है तब तक शान्ति के साथ समय बिताना उचित है। इस प्रकार से जब महाराज युधिष्ठिर भीम को समझा रहे थे ठीक उसी समय दैवात् व्यास जी पहुँच गये, उन्हें देखते ही सभी ने उठकर स्वागत किया तथा आदर के साथ उच्च आसन पर बैठाया।

तृतीय सर्ग

युधिष्ठिर और अर्जुन के प्रति व्यास की उक्ति

हे राजन्! संग्राम में उसी की जय होती है जिसके पास सेना तथा अस्त्रादि का विशेष बल है। इस समय यमराज से भी नहीं डरनेवाले भीष्म, कर्ण एवम् युद्ध में प्रलय-कालाग्नि के समान भयंकर द्रोणाचार्य आदि योद्धागण सब दुर्योधन के पक्ष में हैं अतः उन सबों को जिनसे जीत सकें उन दिव्य-अस्त्रों को पाने के लिये मैं अर्जुन को एक मन्त्र बतलाता हूँ जिसके द्वारा वे कठिन तपस्या कर इन्द्र भगवान् को प्रसन्न कर दिव्य अस्त्र तथा पराक्रम प्राप्तकर युद्ध में विजयी होंगे, बस यही मेरे आने का उद्देश्य है। ऐसा कह व्यासजी पुनः अर्जुन से कहने लगे—हे अर्जुन! तुम अब मेरे कथनानुसार साथ में अस्त्रों को भी लिये हुए मुनियों की भाँति जाकर तपस्या करो, और जहाँ पर तपस्या करनी है वहाँ पर यक्ष तुम्हें शीघ्र ही पहुँचा देगा। ऐसा कहकर जैसे ही व्यास जी अन्तर्धान हुए वैसे

ही अर्जुन के पास यक्ष उपस्थित हो गया तब उन्हें जाने के लिये उद्यत देख द्रौपदी अर्जुन से कहने लगी।

अर्जुन के प्रति द्रौपदी की उक्ति

हे अर्जुन! संसार में तेजस्वी पुरुषों की मान-हानि प्राण-हानि के तुल्य होती है, क्योंकि शत्रु से पराजित होने पर उनका अपमान होता है। शत्रुओं ने जो-जो दुर्व्यवहार किये हैं और जिन्हें कि—मैं स्मरण भी नहीं करना चाहती, आज मुझे वे ही सब आपके बिना यद्यपि और भी कष्ट पहुँचायेंगे तथापि उन सबों को इस आशा से सहूँगी कि आप शीघ्र ही शत्रुओं को जीतने योग्य सामर्थ्य प्राप्त कर पुनः मिलेंगे। अतः अब आप तपस्या के लिये जायँ। आपके समस्त विघ्नों को इन्द्र भगवान् दूर करें। तब इन सब बातों को सुनकर अर्जुन को दुर्योधनादिकों के ऊपर अत्यन्त क्रोध हुआ, और वे कवच पहनकर तलवार, धनुष और तरकश लेकर यक्ष के बताये हुये रास्ते से इन्द्रकील पर्वत पर तपस्या करने के लिये चल पड़े। उस समय मङ्गल-सूचक दिव्य दुन्दुभिशब्द तथा आकाश में पुष्प-वर्षा होने लगी जिसे देखकर सब अत्यन्त प्रसन्न हुये।

चतुर्थ सर्ग

यक्षकृत शरद् गुण वर्णन

अर्जुन को शरद् शोभा की छटाओं को देखने में आसक्त जानकर यक्ष शरद् सम्बन्धी वार्ता करने लगा—

हे अर्जुन! यह समय बहुत सुन्दर प्रतीत हो रहा है। भूमि धान्यरूप फलों से भरी हुई है। सरोवर और नदियों का जल स्वच्छ हो गया है। आकाश मण्डल सजल मेघ रहित होने से निर्मल हो गया है। आकाश के अन्तराल में पक्षिगण मधुर शब्द करते हुए विचरण कर रहे हैं। सुगन्ध को लेकर पवन मन्द-मन्द बह रहा है। दिशाएँ प्रसन्न दीख रही हैं खेत का जल, हरित लता, सफेद कमल, और पके हुए साठी धान की पीत कान्ति ये सब इन्द्र-धनुष की शोभा को धारण कर रहे हैं। गोपाल की ललनाएँ अपने सुमधुर गीत से मयूर की केकावाणी को भी तिरस्कृत कर रही हैं। उनके गानों में आसक्त होकर हरिणियाँ तृण चरने को भी भूल गयी हैं।

पञ्चम सर्ग

'कविकृत' हिमालय वर्णन

इन्द्रकील पर्वत की ओर यक्ष के साथ जाते हुए अर्जुन ने हिमालय की शोभा को निम्न-लिखित रूप में देखा—

हिमालय समस्त लोक के मनुष्य को आश्रय देने वाला है। इसके गर्भ में अनेक धातु और मणि गुम्फित हैं। अतएव यह रत्नाकर की छवि को धारण किए हुए है।

यक्षकृत हिमालय वर्णन

हिमालय का उच्च शिखर आकाश-मण्डल को छूने जा रहा है। इसके पार्श्व प्रदेश में मानसरोवर और कैलास आदि पवित्र स्थान हैं तथा मध्य-प्रदेश में गहन वन हैं जिसमें बड़े-बड़े वृक्ष और हिंसक प्राणी निर्भय पूर्वक विचर रहे हैं। चारो ओर महौषधियाँ चमक कर बिजली की शोभा दे रही हैं। सरोवर और लताकुञ्ज अत्यन्त सुन्दर हैं, जो नायक-नायिका को मुग्ध कर रहे हैं। इस हिमालय पर दिव्य सुन्दरियाँ विहार के लिये स्वर्ग से आती हैं। यह परम पवित्र स्थान है। इसी स्थान पर भगवती पार्वती ने अपनी विकट तपश्चर्या से भगवान् शंकर को प्राप्त किया था।

इसी हिमालय के पास पार्वतीपति भगवान् शंकर का निवासस्थान कैलास अपनी मणिमय कान्ति से सूर्य की किरणों को तिरस्कृत कर रहा है तप-साधन में संलग्न तपस्वी जन के तप में विघ्न डालने वाली अप्सराएँ विविध रूप धारण कर भ्रूविक्षेपादि से तपस्वियों के धैर्य को च्युत करने की कोशिश कर रही हैं।

इन्द्रकील पर्वत

इन्द्रकील की गुफाएँ अत्यन्त-सुन्दर हैं। यह पर्वत इन्द्र का अत्यन्त प्रिय है। स्वर्णमयी तटभूमि की कान्ति पवन प्रेरित लताओं के मध्य भाग पर जाकर विद्युल्लता का अनुकरण कर रही है। यहाँ का चन्दन वृक्ष मत्त गज के कपोल की रगड़ से सर्प रहित हो गया है। मरकत मणि की तीक्ष्ण प्रभा से इस पर्वत पर सूर्य की किरणें भी हतप्रभ हो गई हैं।

अर्जुन गङ्गा के समीप जिस इन्द्रकील पर्वत के सुन्दर-प्रदेश में पहुँचे उस स्थान पर वृक्ष अपने आश्रित भ्रमर और पक्षियों के द्वारा मानो अर्जुन की जयध्वनि और पवन के द्वारा पुष्प-वृष्टि कर रहे थे। पवन पङ्कज-पराग और भागीरथी के शैत्य को लेकर सुखस्पर्श कर रहा था। अर्जुन ने प्रवाह के वेग से भंग देवदारु एवं अत्यन्त पतली पतली बेत की लता और तरङ्ग के ऊपर तैरने वाले कलहंसों तथा मत्त भ्रमर से युक्त तटप्रदेश को देखा



॥ श्रीः ॥

महाकविश्रीभारविप्रणीतं

किरातार्जुनीयम्

घण्टापथ-प्रकाश-टीकाद्वयोपेतम्



प्रथमः सर्गः

घण्टापथः (मल्लिनाथी)

अर्द्धाङ्गीकृतदाम्पत्यमपि गाढानुरागि यत्। पितृभ्यां जगतस्तस्मै कस्मैचिन्महसे नमः ॥
आलम्बे जगदालम्बं हेरम्बचरणाम्बुजम्। शुष्यन्ति यद्रजःस्पर्शात्सद्यः प्रत्यूहवार्धयः ॥
तद्दिव्यमव्ययं धाम सारस्वतमुपास्महे। यत्प्रकाशात्प्रलीयन्ते मोहान्धतमसश्छटाः ॥

वाणीं काणभुजीमजीगणदवाशासीच्च वैयासकी-
मन्तस्तन्त्रमरंस्त पन्नगगवीगुम्फेषु चाजागरीत्।
वाचामाचकलद्रहस्यमखिलं यश्चाक्षपादस्फुरां
लोकेऽभूद्यदुपज्ञमेव विदुषां सौजन्यजन्यं यशः ॥
मल्लिनाथकविः सोऽयं मन्दात्मानुजिघृक्षया।
तत्किरातार्जुनीयाख्यं काव्यं व्याख्यातुमिच्छति ॥
नारिकेलफलसंमितं वचो भारवेः सपदि तद्विभज्यते।
स्वादयन्तु रसगर्भनिर्भरं सारमस्य रसिका यथेप्सितम् ॥

नानानिबन्धविषमैकपदैर्नितान्तं साशङ्कचङ्क्रमणखिन्नधियामशङ्कम्।
कर्तुं प्रवेशमिह भारविकाव्यबन्धे घण्टापथं कमपि नूतनमातनिष्ये ॥
इहान्वयमुखेनैव सर्वं व्याख्यायते मया। नामूलं लिख्यते किंचिन्नानपेक्षितमुच्यते

अथ तत्रभवान्भारविनामा कविः 'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये। सद्यःपरनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे'॥ इत्याद्यालङ्कारिकवचनप्रामाण्यात्काव्यस्यानेकश्रेयःसाधनतां, 'काव्यालापांश्च वर्जयेद्' इति निषेधशास्त्रस्यासत्काव्यविषयतां च पश्यन्किरातार्जुनीयाख्यं महाकाव्यं चिकीर्षुश्चिकीर्षितार्थाविघ्नपरिसमाप्तिसम्प्रदायाविच्छेदलक्षणफलसाधनत्वाद् 'आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वाऽपि

तन्मुखम्' इत्याद्याशीर्वादाद्यन्यतमस्य प्रबन्धमुखलक्षणत्वाच्च वनेचरस्य युधिष्ठिरप्राप्तिरूपं वस्तु निर्दिशन्कथामुपक्षिपति—

श्रियः कुरूणामधिपस्य पालनीं प्रजासु वृत्तिं यमयुङ्क्त वेदितुम् ।
स वर्णिलिङ्गी विदितः समाययौ युधिष्ठिरं द्वैतवने वनेचरः ॥ १ ॥

श्रिय इति । आदितः श्रीशब्दप्रयोगाद्वर्णगणादिशुद्धिर्नात्रातीवोपयुज्यते । तदुक्तम्—'देवतावाचकाः शब्दा ये च भद्रादिवाचकाः । ते सर्वे नैव निन्द्याः स्युर्लिपितो गणतोऽपि वा' ॥ इति । कुरूणां निवासाः कुरवो जनपदाः । 'तस्य निवासः' इत्यण्प्रत्ययः । जनपदे लुप् । तेषामधिपस्य दुर्योधनस्य संबन्धिनीम् । शेषे षष्ठी । श्रियो राज्यलक्ष्म्याः । 'कर्तृकर्मणोः कृति' इति कर्मणि षष्ठी । पाल्यतेऽनयेति पालनी ताम् । प्रतिष्ठापिकामित्यर्थः । प्रजारागमूलत्वात्सम्पद इति भावः । 'करणाधिकरणयोश्च' इति करणे ल्युट् । 'टिड्ढाणञ्—' इत्यादिना ङीप् । प्रजासु जनेषु विषये । 'प्रजा स्यात्सन्ततौ जने' इत्यमरः । वृत्तिं व्यवहारं वेदितुं ज्ञातुं यं वनेचरमयुङ्क्त नियुक्तवान् । वर्णः प्रशस्तिरस्यास्तीति वर्णी ब्रह्मचारी । तदुक्तं—'स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् । सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च ॥ एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः । विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम् ॥' एतदष्टविधमैथुनाभावः प्रशस्तिः । 'वर्णाद् ब्रह्मचारिणि' इतीनिप्रत्ययः । तस्य लिङ्गं चिह्नमस्यास्तीति वर्णिलिङ्गी । ब्रह्मचारिवेषवानित्यर्थः । स नियुक्तः, वने चरतीति वनेचरः किरातः । 'भेदाः किरातशबरपुलिन्दा म्लेच्छजातयः' इत्यमरः । 'चरेष्टः' इति टप्रत्ययः । 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इत्यलुक् । विदितं वेदनमस्यास्तीति विदितः । परवृत्तान्तज्ञानवानित्यर्थः । 'अर्श आदिभ्योऽच्' इत्यच्प्रत्ययः । अथवा कर्तरि कर्मधर्मोपचाराद्विदितवृत्तान्तो विदित इत्युच्यते । उभयत्रापि 'पीता गावः', 'भुक्ता ब्राह्मणाः', 'विभक्ता भ्रातरः' इत्यादिवत्साधुत्वं, न तु कर्तरि क्तः, सकर्मकेभ्यस्तस्य विधानाभावात् । अत एव भाष्यकारः—'अकारो मत्वर्थीयः । विभक्तमेषामस्तीति विभक्ताः । पीतमेषामस्तीति पीताः' इति सर्वत्र । अथवोत्तरपदलोपोऽत्र द्रष्टव्यः । विभक्तधना विभक्ताः, पीतोदकाः पीता इति । अत्र लोपशब्दार्थमाह कैयटः—'गम्यार्थस्याप्रयोग एव लोपोऽभिमतः । 'विभक्ता भ्रातरः' इत्यत्र च धनस्य यद्विभक्तत्वं तद् भ्रातृषूपचरितम् । 'पीतोदका गावः' इत्यत्राप्युदकस्य पीतत्वं गोष्वारोप्यते' इति । तद्वदत्रापि वृत्तिगतं विदितत्वं वेदितरि वनेचर उपचर्यते । एतेन 'वनाय पीतप्रतिबद्धवत्साम्', 'पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु' एवमादयो व्याख्याताः । अथवा विदितः विदितवान् । सकर्मकादप्यविवक्षिते कर्मणि कर्तरि क्तः । यथा 'आशितः कर्ता' इत्यादौ । यथाऽऽहुः—'धातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसङ्ग्रहात् । प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया ॥' इति । द्वैतवने द्वैताख्ये तपोवने । यद्वा द्वे इते गते यस्मात्तद् द्वीतं, द्वीतमेव द्वैतं, तच्च तद्वनं च तस्मिन्, शोकमोहादिवर्जित इत्यर्थः । युधिष्ठिरं धर्मराजम् । 'हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम्' इत्यलुक् । 'गवि-

युधिभ्यां स्थिरः' इति षत्वम् । समाययौ सम्प्राप्तः । अत्र 'वने वनेचरः' इति द्वयोः स्वरव्यञ्जनसमुदाययोरेकदैवावृत्त्या वृत्त्यनुप्रासो नामालङ्कारः । अस्मिन्सर्गे वंशस्थवृत्तं लक्षणं—'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' इति ॥ १ ॥

प्रकाशः

धरि शीश चरणरज गुरुवर के, करि विनय महेश गजानन का ।
यह उठी लेखनी लिखने को, भाषानुवाद भारवि कृति का ॥ १ ॥

राजा कुरु के वंश में धृतराष्ट्र और पाण्डु दो भाई थे। धृतराष्ट्र के सौ लड़के थे। उन लड़कों का स्वभाव शैशव काल से ही क्रूर था। उनमें सब से प्रधान सुयोधन था। पाण्डु के पाँच पुत्र थे। वे सत्य और सुजनता के अतिरिक्त क्रूरता और नीचता को अपने पास नहीं फटकने देते थे। बाल्य काल से ही वे होनहार थे। उनकी कला-कुशलता की समानता करने में सुयोधन अपने को असमर्थ पाकर उनसे द्वेष करने लगा जिसके परिणाम स्वरूप उसने उन्हें तेरह वर्षों के लिए निर्वासित कर दिया। पाण्डु के पुत्र, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव के नाम से पुकारे जाते थे। लोग इन्हें पाण्डव कहा करते थे। जब ये पाण्डव निर्वासित कर दिये गये ऐसी विषमावस्था में उन लोगों को सुयोधन के शासन का पूर्णतया ज्ञान करना असम्भव सा था। सचमुच सबकी रक्षा परमेश्वर करता है। एक किरात युधिष्ठिर के समक्ष उपस्थित हुआ। युधिष्ठिर ने उसे सिखलाया-पढ़ाया और वह ब्रह्मचारी का स्वरूप बनाकर हस्तिनापुर गया। वहाँ कुछ दिन रहकर वहाँ की परिस्थिति का गम्भीर अध्ययन किया और आकर सम्पूर्ण वृत्तान्त बिना किसी भय और संकोच के युधिष्ठिर से निवेदन किया। पहले ब्रह्मचारियों का सर्वत्र अबाध प्रवेश था इसीलिये ब्रह्मचारी के स्वरूप में ही वह वहाँ गया। बस, यहीं से भारवि की कथा का श्रीगणेश है।

कुरु देश निवासियों के स्वामी की राज्यश्री की रक्षा करने में समर्थ, प्रजा-वर्ग के साथ किये जाने वाले व्यवहार को समझने के लिये जो किरात ब्रह्मचारी के स्वरूप में भेजा गया था वह सम्पूर्ण वृत्तान्तों का यथावत् ज्ञान कर के युधिष्ठिर के पास द्वैतवन में (जहाँ वे वास करते थे) लौट कर आया ॥ १ ॥

सम्प्रति तत्कालोचितत्वमादेशयंस्तस्य तद्गुणसम्पन्नत्वमादर्शयन्नाह—

कृतप्रणामस्य महीं महीभुजे जितां सपत्नेन निवेदयिष्यतः ।
न विव्यथे तस्य मनो न हि प्रियं प्रवक्तुमिच्छन्ति मृषा हितैषिणः ॥२॥

कृतप्रणामस्येति । कृतप्रणामस्य तत्कालोचितत्वात्कृतनमस्कारस्य सपत्नेन रिपुणा दुर्योधनेन । 'रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः' इत्यमरः । जितां स्वायत्तीकृतां महीं महीभुजे युधिष्ठिराय क्रियाग्रहणात्संप्रदानत्वम् । निवेदयिष्यतो ज्ञापयिष्यतः । 'लृटः सद्वा' इति शतृप्रत्ययः । तस्य वनेचरस्य मनो न विव्यथे । कथमीदृगप्रियं राज्ञे

विज्ञापयामीति मनसि न चचालेत्यर्थः। 'व्यथ भयचलनयोः' इति धातोर्लिट्। उक्तमर्थमर्थान्तरन्यासेन समर्थयते—न हीति। हि यस्माद्। हितमिच्छन्तीति हितैषिणः स्वामिहितार्थिनः पुरुषा मृषा मिथ्याभूतं प्रियं प्रवक्तुं नेच्छन्ति, अन्यथा कार्यविघातकतया स्वामिद्रोहिणः स्युरिति भावः। 'अमौल्यममान्द्यममृषाभाषित्वमभ्यूहकत्वं चेति चारगुणाः' इति नीतिवाक्यामृते ॥ २ ॥

(दूत का कर्तव्य है—वह अपने स्वामी से जब अलग होता है अथवा जब वह स्वामी के समक्ष होता है प्रणाम करे। अतः) उसने सर्वप्रथम युधिष्ठिर को प्रणाम किया शत्रुओं के द्वारा अपहृत वसुन्धरा के तथ्य वृत्तान्त को पूर्णतया (चाहे वह स्वामी को प्रिय हो अथवा अप्रिय) निवेदन करने में उसके मन में किसी प्रकार की भावना उत्पन्न न हुई, क्योंकि किसी के कल्याण की कामना करने वाले पुरुष व्यर्थ की शोभाभिराम वाणी नहीं निकालते।

तथाऽपि प्रियार्हे राज्ञि कटुनिष्ठुरोक्तिर्न युक्तेत्याशङ्क्य स्वाम्यनुज्ञया न दुष्यतीत्याशयेनाह—

द्विषां विघाताय विधातुमिच्छतो रहस्यनुज्ञामधिगम्य भूभृतः !
स सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनीं विनिश्चितार्थामिति वाचमाददे ॥ ३ ॥

द्विषामिति। रहस्येकान्ते स वनेचरो द्विषां शत्रूणाम्। कर्मणि षष्ठी। विघाताय विहन्तुमित्यर्थः। 'तुमर्थाच्च भाववचनाद्' इति चतुर्थी। 'भाववचनाश्च' इति तुमर्थे घञ्प्रत्ययः। अत्र तादर्थ्यमपि न दोषः। तथाऽपि प्रयोगवैचित्रीविशेषस्याप्यलङ्कारत्वादेवं व्याचक्षते। विधातुं व्यापारं कर्त्तुमिच्छतः। 'समानकर्तृकेषु तुमुन्'। द्विषो विहन्तुमुद्युक्तज्ञानस्येत्यर्थः। अत एव भूभृतो युधिष्ठिरस्यानुज्ञामधिगम्य। सुष्ठु भावः सौष्ठवं शब्दसामर्थ्यम्। सुष्ठुशब्दादव्ययादुद्गात्रादित्वादञ्प्रत्ययः। उदारस्य भाव औदार्यमर्थसम्पत्तिः। तयोर्द्वन्द्वः सौष्ठवौदार्ये। अत्रौदार्यशब्दस्याजाद्यदन्तत्वेऽपि 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' इत्यत्राल्पस्वरस्यापि हेतुशब्दस्य पूर्वनिपातमकुर्वता सूत्रकृतैव पूर्वनिपातस्यानित्यत्वज्ञापनान्न पूर्वनिपातः। उक्तञ्च काशिकायाम्—'अयमेव लक्षणहेत्वोरिति निर्देशः पूर्वनिपातव्यभिचारचिह्नम्' इति। त एव विशेषः। तयोर्वा विशेषः। तेन शालते शोभत इति सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनी ताम्। ताच्छील्ये णिनिः। विनिश्चितार्थां विशेषतः प्रमाणतो निर्णीतार्थामिति वक्ष्यमाणरूपां वाचमाददे स्वीकृतवान्। उवाचेत्यर्थः ॥ ३ ॥

एकान्त स्थान में उसने शत्रुओं के विच्छेद करने के अभिलाषी भूपति (युधिष्ठिर) से प्रिय अथवा अप्रिय संवाद सुनाने की आज्ञा प्राप्त कर—सरसता और उदारता से विशेष महत्त्व पूर्ण और विशेष प्रमाणों से निर्णीत अर्थयुक्त वाणी में कहा अर्थात् श्रुति मधुर और स्पष्ट निवेदन किया ॥ ३ ॥

नोट—आददे=आङ्+दा+लिट् । दा धातु का अर्थ है देना परन्तु, आ उपसर्ग से 'कहना' अर्थ द्योतित होता है ॥

प्रथमं तावदप्रियनिवेदकमात्मानं प्रत्यक्षोभं याचते—

क्रियासु युक्तैर्नृप ! चारचक्षुषो न वञ्चनीयाः प्रभवोऽनुजीविभिः ।
अतोऽर्हसि क्षन्तुमसाधु साधु वा हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः ॥ ४॥

क्रियास्विति । हे नृप! क्रियासु कृत्यवस्तुषु युक्तैर्नियुक्तैरनुजीविभिर्भृत्यैः। चारादिभिरित्यर्थः। चरन्तीति चराः। पचाद्यच् । त एव चाराः। चरेः पचाद्यजन्तात्प्रज्ञादित्वादण्प्रत्ययः। त एव चक्षुर्येषां ते चारचक्षुषः। 'स्वपरमण्डले कार्याकार्यावलोकने चाराश्चक्षूंषि क्षितिपतीनाम्' इति नीतिवाक्यामृते। प्रभवो निग्रहानुग्रहसमर्थाः स्वामिनो न वञ्चनीया न प्रतारणीयाः। सत्यमेव वक्तव्या इत्यर्थः। चारापचारे चक्षुरपचारवद्राज्ञां पदे पदे निपात इति भावः। अतोऽप्रतार्यत्वाद्धेतोः। असाध्वप्रियं साधु प्रियं वा। मदुक्तमिति शेषः। क्षन्तुं सोढुमर्हसि। कुतः। हितं पथ्यं मनोहारि प्रियं च वचो दुर्लभम्। अतो मद्वचोऽपि हितत्वादप्रियमपि क्षन्तव्यमित्यर्थः॥ ४ ॥

कार्य सम्पादन करने के लिये नियुक्त किये गये भृत्यों का कर्तव्य है—'वे अपने स्वामी के साथ कपट-व्यवहार न करें' क्योंकि वे ही उनके नेत्र हैं (नौकरों के द्वारा स्वामी लोग सम्पूर्ण बातों का पता लगाते हैं) इसलिये यदि अप्रिय बात हो तो आप क्षमा करें। कारण यह है कि लाभप्रद और साथ ही साथ चित्ताकर्षक वचन का सर्वथा अभाव सा रहता है। किसी का कथन है—रोना और हँसना साथ २ नहीं होता 'दुइ इक संग न होंहि भुआलू। हँसब ठठाइ फुलाइब गालू ॥' सच बात तो यह है कि मुझे अपना कर्तव्य पालन करने के लिये यथार्थ निवेदन करना होगा, चाहे वह आपको भला लगे या बुरा। यदि कदाचित् कुछ बात ऐसी भी हो तो उसके लिये क्षमाप्रार्थी हूँ क्योंकि प्रिय और उपकारक वचनों का परस्पर सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता ॥ ४ ॥

तर्हि तूष्णींभाव एव वरमित्याशङ्क्याह—

स किंसखा साधु न शास्ति योऽधिपं हितान्न यः संशृणुते स किंप्रभुः ।
सदाऽनुकूलेषु हि कुर्वते रतिं नृपेष्वमात्येषु च सर्वसंपदः ॥५॥

स इति । यः सखाऽमात्यादिरधिपं स्वामिनं साधु हितं न शास्ति नोपदिशति। 'ब्रुविशासि—' इत्यादिना शासेर्दुहादिपाठाद् द्विकर्मकत्वम्। स हितानुपदेष्टा। कुत्सितः सखा किंसखा। दुर्मन्त्रीत्यर्थः। 'किमः क्षेपे' इति समासान्तप्रतिषेधः। तथा यः प्रभुर्निग्रहानुग्रहसमर्थः स्वामी हितादाप्तजनाद्धितोपदेष्टुः सकाशाद् । 'आख्यातोपयोगे' इत्यपादानात्पञ्चमी । न संशृणुते न शृणोति। हितमिति शेषः । 'समो गम्यृच्छि—' इत्यादिना सम्पूर्वाच्छृणोतेरकर्मकादात्मनेपदम्। अकर्मकत्वं चैवविवक्षिकम्। स हित-

मश्रोता प्रभुः किंप्रभुः कुत्सितस्वामी पूर्ववत्समासः। सर्वथा सचिवेन वक्तव्यं श्रोतव्यं स्वामिना। एवं च राजमन्त्रिणोरैकमत्यं स्यादित्यर्थः। ऐकमत्यस्य फलमाह—सदेति। हि यस्मान्नृपेषु स्वामिषु। अमा सह भवा अमात्यास्तेषु च। 'अव्ययात्त्यप्'। अनुकूलेषु परस्परानुरक्तेषु सत्सु सर्वसम्पदः सदा रतिमनुरागं कुर्वते। न जातु जहतीत्यर्थः। अतो मया वक्तव्यं त्वया च श्रोतव्यमिति भावः। अत्रैवं राजमन्त्रिणोर्हितानुपदेशतद्श्रवणनिन्दासामर्थ्यसिद्धेरैकमत्यलक्षणकारणस्य निर्दिष्टस्य सर्वसम्परिसिद्धिरूपकार्येण समर्थनात्कार्येण कारणसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः। तदुक्तं—'सामान्यविशेषकार्यकारणभावाभ्यां निर्दिष्टप्रकृतसमर्थनमर्थान्तरन्यासः' इति ॥ ५ ॥

जो मित्र (कर्मचारी) स्वामी को सन्मन्त्रणा नहीं देता वह मित्र=मंत्री, राज-कर्मचारी, दूत इत्यादि योग्य मित्र नहीं (मित्र का कर्तव्य है कि वह स्वामी को सत्पथ प्रदर्शन करे) और वह स्वामी, जो हितोपदेष्टा से हित की बात श्रवण करने में उपेक्षा करता है वह स्वामी होने योग्य नहीं। क्योंकि जब स्वामी (राजा) और अमात्यादिक परस्पर अनुराग करते हैं; एक दूसरे के विपरीत (विरुद्ध) नहीं जाते तो सम्पूर्ण सम्पत्तियाँ उनकी सहचारिणी बनकर रहती हैं ॥ ५ ॥

सम्प्रति स्वाहङ्कारं परिहरति—

निसर्गदुर्बोधमबोधविक्लवाः क्व भूपतीनां चरितं क्व जन्तवः।
तवानुभावोऽयमवेदि यन्मया निगूढतत्त्वं नयवर्त्म विद्विषाम् ॥ ६ ॥

निसर्गेति। निसर्गदुर्बोधं स्वभावदुर्ग्रहम्। 'इषद्दुः—' इत्यादिना खल्प्रत्ययः। भूपतीनां चरितं क्व। अबोधविक्लवा अज्ञानोपहता जन्तवः। मादृशाः पामरजना इत्यर्थः। क्व। नोभयं सङ्घटत इत्यर्थः। तथापि निगूढतत्त्वं संवृतयाथार्थ्यं विद्विषां नयवर्त्म षाड्गुण्यप्रयोगः 'संधिविग्रहयानानि संस्थाप्यासनमेव च। द्वैधीभावश्च विज्ञेयाः षड्गुणा नीतिवेदिनाम्'॥ इत्यादिरूपो यन्मयाऽवेदि। ज्ञातमिति यावत्। विदेः कर्मणि लुङ्। अयम्। इदं वेदनमित्यर्थः। विधेयप्राधान्यात् पुंल्लिङ्गनिर्देशः। तवानुभावः सामर्थ्यम्। अनुगतो भावोऽनुभाव इति घञन्तेन प्रादिसमासः। न तूपसृष्टाद्धञ्प्रत्ययः। 'श्रिणीभुवोऽनुपसर्गे' इत्यनुपसर्गाद्भवतेर्धातोर्घञ्विधानात्। अत एव काशिकायाम्—'कथं प्रभावो राज्ञां प्रकृष्टो भाव इति प्रादिसमासः' इति। दोषपरिहारो सम्यग्ज्ञात्वैव विज्ञापयामि। न तु वृथा कर्णकठोरं प्रलपामीत्याशयः ॥ ६ ॥

राजाओं का चरित स्वभावतः दुर्ज्ञेय होता है। मैं भी मन्द-प्रज्ञ पामर जन्तु हूँ, धरणी आस्मान का अन्तर है। यह शत्रुओं के गुप्त-रहस्य-पूर्ण नीति का जो ज्ञान मुझे प्राप्त हुआ है वह आप ही की अनुकम्पा है। तात्पर्य्य यह कि राजाओं की नीति सुबुद्ध लोगों के ही समझ में आ सकती है दुर्बुद्ध लोग नहीं समझ सकते। यदि दुर्बुद्ध होते हुए भी मैं समझ सका हूँ वह केवल आप के अनुभाव से ॥ ६ ॥

सम्प्रति यद्वक्तव्यं तदाह—

विशङ्कमानो भवतः पराभवं नृपासनस्थोऽपि वनाधिवासिनः।
दुरोदरच्छद्मजितां समीहते नयेन जेतुं जगतीं सुयोधनः॥ ७॥

विशङ्कमान इति। सुखेन युध्यते सुयोधनः। 'भाषायां शासियुधिदृशिधृषिमृषिभ्यो युज्वाच्यः'। नृपासनस्थः सिंहासनस्थोऽपि। वनमधिवसतीति वनाधिवासिनो वनस्थात्। राज्यभ्रष्टादपीत्यर्थः। भवतस्त्वत्तः पराभवं पराजयं विशङ्कमान उत्प्रेक्षमाणः सन्। दुष्टमुदरमस्येति दुरोदरं द्यूतम्। पृषोदरादित्वात्साधुः। 'दुरोदरो द्यूतकारे पणे द्यूते दुरोदरम्' इत्यमरः। तस्य च्छद्मना मिषेण जितां लब्धां दुर्नयार्जितां जगतीं महीम्। 'जगती विष्टपे मह्यां वास्तुच्छन्दोविशेषयोः' इति वैजयन्ती। नयेन नीत्या जेतुं वशीकर्तुं समीहते व्याप्रियते। न तूदास्त इत्यर्थः। बलवत्स्वामिकमविशुद्धागमं च धनं भुञ्जानस्य कुतो मनसः समाधिरिति भावः। अत्र 'दुरोदरच्छद्मजिताम्' इति विशेषणद्वारेण पदार्थस्य चतुर्थपादार्थं प्रति हेतुत्वेनोपन्यासात् द्वितीयकाव्यलिङ्गमलङ्कारः। तदुक्तं—'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम्'॥ ७॥

सुयोधन राज्यासनाधिरूढ है और आप निर्वासित हैं तो भी वह आप से अपने पराजय की आशङ्का करता हुआ, द्यूत (जुआ) के व्याज से जीती हुई पृथ्वी को अब नीतिपूर्वक जीतने की कामना कर रहा है। अभिप्राय यह है कि उसने अन्याय से राज्य प्राप्त किया है। इस बात का उसे खेद है अतः अब नीतिपूर्वक भी विजयी बनने के लिये यत्नशील है॥ ७॥

'नयेन जेतुं जगतीं समीहते' इत्युक्तम्। तत्प्रकारमाह—

तथाऽपि जिह्मः स भवज्जिगीषया तनोति शुभ्रं गुणसम्पदा यशः।
समुन्नयन्भूतिमनार्यसङ्गमात् वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः॥ ८॥

तथाऽपीति। तथाऽपि साशङ्कोऽपि। जिह्मो वक्रः। वञ्चक इति यावत्। स दुर्योधनो भवज्जिगीषया। गुणैर्भवन्तमाक्रमितुमिच्छयेत्यर्थः। 'हेतौ' इति तृतीया। गुणसंपदा दानदाक्षिण्यादिगुणगरिम्णा। करणेन। शुभ्रं यशस्तनोति। स खलो गुणलोभनीयां त्वत्सम्पदमात्मसात्कर्तुं त्वत्तोऽपि गुणवत्तामात्मनः प्रकटयतीत्यर्थः। नन्वेवं गुणिनः सतोऽपि सज्जनविरोधो महानस्त्यस्य दोष इत्याशङ्क्य सोऽपि सत्संसर्गालाभे नीचसङ्गमाद्वरमुत्कर्षावहत्वादित्याह—समिति। तथा हि। भूतिं समुन्नयन्नुत्कर्षमापादयन्। 'लटः शतृशानचौ—'इत्यादिना शतृप्रत्ययः। पुनर्लड्ग्रहणसामर्थ्यादप्रथमासामानाधिकरण्यम्। महात्मभिः समम्। सहेत्यर्थः। 'साकं सत्रा समं सह' इत्यमरः। अनार्यसङ्गमाद् दुर्जनसंसर्गात्। 'पञ्चमी विभक्ते' इति पञ्चमी। विरोधोऽपि वरं मनाक्प्रियः। 'देवाद् वृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु क्लीबं मनाक्प्रिये' इत्यमरः। अत्र मैत्र्यपेक्षया मनाक्प्रियत्वं विरोधस्य 'भूतिं समुन्नयन्' इत्यस्य पूर्ववाक्यान्वये समा-

त्रस्य वाक्यार्थस्य पुनरादानात्समाप्तपुनरात्ताख्यदोषापत्तिः । तदुक्तं काव्यप्रकाशे— 'समाप्तपुनरादानात्समाप्तपुनरात्तकम्' इति । न च वाक्यान्तरमेतत् । येनोक्तदोष-परिहारः स्यात् । अर्थान्तरन्यासालङ्कारः । स च भूतिसमुन्नयनस्य पदार्थविशेषण-द्वारा विरोधवत्त्वं प्रति हेत्वभिधानरूपकाव्यलिङ्गानुप्राणित इति ॥ ८ ॥

सशङ्क है तो भी कुटिल, वह (सुयोधन) श्रीमान् को जीतने की अभिलाषा से दान, दाक्षिण्यादि गुणों से अपने विमल यश की अभिवृद्धि कर रहा है । क्योंकि ऐश्वर्य्य की वृद्धि करते हुये दुष्टों के सम्पर्क की अपेक्षा सज्जनों के साथ वैमनस्य करना भी कुछ अच्छा है ॥८॥

'ननु कातर्यं केवला नीतिः' इत्याशङ्क्य नीतियुक्तं पौरुषमस्येत्याह—

कृतारिषड्वर्गजयेन मानवीमगम्यरूपां पदवीं प्रपित्सुना ।
विभज्य नक्तंदिवमस्ततन्द्रिणा वितन्यते तेन नयेन पौरुषम् ॥ ९ ॥

कृतेति । षण्णां वर्गः षड्वर्गः । अरीणामन्तःशत्रूणां षड्वर्गोऽरिषड्वर्गः । शिव-भागवतवत्समासः । तस्य जयः कृतो येन तेन तथोक्तेन । विनीतेनेत्यर्थः । विनीता-धिकारं प्रजापालनमिति भावः । अगम्यरूपां पुरुषमात्रदुष्प्राप्याम् । मनोरिमां मान-वीम् । मनूपदिष्टसदाचारक्षुण्णामित्यर्थः । पदवीं प्रजापालनपद्धतिं प्रपित्सुना प्रप-त्तुमिच्छुना । प्रपद्यतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः 'सनि मीमा—'इत्यादिनेसादेशः । 'अत्र लोपो-ऽभ्यासस्य' इत्यभ्यासलोपः । अस्ता तन्द्रिरालस्यं यस्य तेनास्ततन्द्रिणा । अनलसे-नेत्यर्थः । तदिस्सौत्रो धातुः । तस्मात् । 'वङ्क्र्यादयश्च' इत्यौणादिकः क्रिन्प्रत्ययः 'कृदि-कारादक्तिनो वा ङीप् वक्तव्यः' इति । 'वन्दीघटीतरीतन्द्रीति ङीषन्तोऽपि' इति क्षीर-स्वामी । तथा रामायणे प्रयोगः—'निस्तन्द्रिरप्रमत्तश्च स्वदोषपरदोषवित्' इति । तेन दुर्योधनेन । पुरुषस्य कर्म पौरुषं पुरुषकारः, उद्योग इति यावत् । युवादित्वादण् प्रत्ययः । 'पौरुषं पुरुषस्योक्ते भावे कर्मणि तेजसि' इति विश्वः । नक्तं च दिवा च नक्तन्दिवम् । अहोरात्रयोरित्यर्थः । 'अचतुर' इत्यादिना सप्तम्यर्थवृत्त्योरव्यययोर्द्वन्द्व-निपातेऽच्समासान्तः, विभज्यास्यां वेलायामिदं कर्मेति विभागं कृत्वा नयेन नीत्या वितन्यते विस्तार्यते ॥ ९ ॥

वह (सुयोधन) काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और अहंकार ये जो प्राणी के छः शत्रु हैं इन्हें जीतकर, मनुष्यमात्र के लिये दुर्ज्ञेय (दुष्प्राप्य), मनु के द्वारा उपदिष्ट जो शासनपद्धति है उसे कार्य्यक्रम में लाने की (प्राप्त करने की) इच्छा रखकर और आलस्य को दूर भगाकर, समय-विभागानुकूल नीति-पथ का आधार लेकर अपने पुरुषार्थ को विस्तृत कर रहा है ॥९॥

सम्प्रति भृत्याद्यनुरागमाह—

सखीनिव प्रीतियुजोऽनुजीविनः समानमानान्सुहृदश्च बन्धुभिः ।
स सन्ततं दर्शयते गतस्मयः कृताधिपत्यामिव साधु बन्धुताम् ॥१०॥

सखीनिति। गतस्मयो निरहङ्कारोऽत एव स दुर्योधनः। सन्ततमनारतं साधु सम्यक्। अकपटमित्यर्थः। अनुजीविनो भृत्यान्। प्रीतियुजः स्निग्धान्सखीनिव मित्राणीव। दर्शयते। लोकस्येति शेषः। 'हेतुमति च' इति णिच्। 'णिचश्च' इत्यात्मनेपदम्। शोभनं हृदयं येषां तान्सुहृदो मित्राणि च। 'सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः' इति निपातः। बन्धुभिर्भ्रात्रादिभिः समानमानां स्तुल्यसत्कारान् दर्शयते बन्धूनां समूहो बन्धुता ताम्॥ 'ग्रामजनबन्धुसहायेभ्यस्तल्'। कृतमाधिपत्यं स्वाम्यं यस्यास्तां कृताधिपत्यामिव दर्शयते। बन्धूनधिपतीनिव दर्शयतीत्यर्थः। यथा भृत्यादिषु सख्यादिबुद्धिर्जायते लोकस्य तथा तान्संभावयतीत्यर्थः। अनुजीव्यादीनां, 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' इति कर्मत्वम्। पूर्वं स्वस्मिन्नेव पदान्वये वाक्यार्थमित्थं वर्णयन्ति—स राजाऽनुजीव्यादीन्सख्यादीनिव दर्शयते। सख्यादय इव ते तु तं पश्यन्ति। सख्यादिभावेन पश्यतस्तांस्तथा दर्शयते। स्वयमेव छन्दानुवर्त्तितया स्वदर्शनं तेभ्यः प्रयच्छतीत्यर्थः। अर्थात्तस्येप्सितकर्मत्वम्। अणि कर्तुरनुजीव्यादेः 'अभिवादिदृशोरात्मनेपदमुपसंख्यानम्' इति पाक्षिकं कर्मत्वम्। एवं चात्राण्यन्तकर्मणो राज्ञो ण्यन्ते कर्तृत्वेऽपि 'आरोहयते हस्ती स्वयमेव' इत्यादिवदश्रूयमाणकर्मान्तरत्वाभावान्नायं णेरणादिसूत्रस्य विषय इति मत्वा 'णिचश्च' इत्यात्मनेपदं प्रतिपेदिरे। भाष्ये तु णेरणादिसूत्रविषयत्वमप्यस्योक्तम्। यथाऽऽह—'पश्यन्ति भृत्या राजानं', 'दर्शयते भृत्यान् राजा', 'दर्शयते भृत्यै राजा' अत्रात्मनेपदं सिद्धं भवति' इति। अत्राह कैयटः—'ननु कर्मान्तरसद्भावादत्रात्मनेपदेन भाव्यम्, उच्यते—अस्मादेवोदाहरणाद्भाष्यकारस्यायमेवाभिप्राय ऊह्यते—'अण्यन्तावस्थायां ये कर्तृकर्मणी तद्व्यतिरिक्तकर्मान्तरसद्भावादात्मनेपदं न भवति। यथा—'स्थलमारोहयति मनुष्यान्' इति। इह त्वण्यन्तावस्थायां कर्तॄणां भृत्यानां णौ कर्तृत्वमिति भवत्येवात्मनेपदमि'ति॥ १०॥

वह (सुयोधन) अहङ्कार से पृथक् रहकर अपने कर्मचारियों के साथ सर्वदा प्रीति-पात्र मित्रों की तरह मित्रों का आदर (सत्कार) ठीक निजी गोत्र-कुटुम्बियों की तरह और जो उसके सगे कुटुम्ब के लोग हैं उनका साक्षात् राज्याधिकारी की भाँति आदर करता है। तात्पर्य्य यह कि उसके व्यवहार से सब लोग सन्तुष्ट हैं॥ १०॥

न चायं त्रिवर्गास्प्रमाद्यतीत्याह—

असक्तमाराधयतो यथायथं विभज्य भक्त्या समपक्षपातया।
गुणानुरागादिव सख्यमीयिवान् न बाधतेऽस्य त्रिगणः परस्परम्॥११॥

असक्तमिति। यथायथं यथास्वं विभज्य, असङ्कीर्णरूपं विविच्येत्यर्थः। 'यथास्वे यथायथम्' इति निपातनात् द्विर्भावो नपुंसकत्वं च। 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' इति ह्रस्वत्वम्। पक्षे पातः पक्षपातः आसक्तिविशेषः समस्तुल्यो यस्यां तया समपक्षपातया। भक्त्याऽनुरागविशेषेण। पूज्येष्वनुरागो भक्तिरित्युपदेशः।

पूज्यश्चायं त्रिवर्गं इति । असक्तमनासक्तम् । अव्यसनितयेति यावत् । आराधयतः सेवमानस्यास्य दुर्योधनस्य त्रयाणां धर्मार्थकामानां गणस्त्रिगणस्त्रिवर्गः । 'त्रिवर्गो धर्मकामार्थैश्चतुर्वर्गः समोक्षकैः' इत्यमरः । गुणानुरागात्तदीयगुणेष्वनुरागात् । गुणवदाश्रयलोभादित्यर्थः । सख्यं मैत्रीं 'सख्युर्यः' इति यप्रत्ययः । ईयिवानुपगतवानिवेत्युत्प्रेक्षा । 'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च' इति क्वसुप्रत्ययान्तो निपातः । 'नात्रोपसर्गस्तन्त्रम्' इति काशिकाकार आह स्म । परस्परं न बाधते । समवर्तित्वादस्य 'धर्मार्थकामाः परस्परानुपमर्देन वर्धन्त इत्यर्थः । उक्तं च—'धर्मार्थकामाः सममेव सेव्या यो ह्येकसक्तः स जनो जघन्यः' इति ॥ ११ ॥

वह दुर्योधन अनासक्त होकर किसी में विशेष पक्षपात न करके यथोचित विभाग करते हुये जिन धर्म, अर्थ और काम इन त्रिवर्गों का सेवन करता है; वे त्रिवर्ग परस्पर में संघर्ष को नहीं प्राप्त होते हैं प्रत्युत उसके अभ्युदय में सहकारी होते हैं । ऐसा मालूम होता है कि वे परस्पर मित्र बन गये हैं । (जैसे—जब वह धर्म करता है उस समय अर्थ और काम उसके मार्ग में रोड़ा नहीं अटकाते । या जब वह अर्थोपार्जन का व्यवसाय करता है तो उसमें धर्म और काम विघ्न नहीं डालते और जब वह काम का सेवन करता है तब उसके लिए धर्म और अर्थ बाधक नहीं बनते) ॥ ११ ॥

अथ श्लोकत्रयेणोपायकौशलं दर्शयन्नादौ सामदाने दर्शयति—

निरत्ययं साम न दानवर्जितं न भूरि दानं विरहय्य सत्क्रियाम् ।
प्रवर्त्तते तस्य विशेषशालिनी गुणानुरोधेन विना न सत्क्रिया ॥१२॥

निरत्ययमिति । तस्य दुर्योधनस्य निरत्ययं निर्बाधम् । अमायिकमित्यर्थः । अन्यथा जनानां दुर्ग्रहत्वादिति भावः । साम सान्त्वम् 'साम सान्त्वमुभे समे' इत्यमरः । दानवर्जितं न प्रवर्त्तते । अन्यथा लुब्धाद्यावर्जनस्य शुष्कप्रियैर्वाक्यैर्दुष्करत्वादिति भावः । उक्तं च—'लुब्धमर्थेन गृह्णीयात्साधुमञ्जलिकर्मणा । मूर्खं छन्दानुरोधेन तत्त्वार्थेन च पण्डितम्' ॥ इति । तथा भूरि प्रभूतं न तु कदाचित्स्वल्पमित्यर्थः । दानं धनत्यागः । सदित्यादरार्थेऽव्ययम् । 'आदरानादरयोः सदसती' इति निपातसंज्ञास्मरणात् । तस्य क्रियां सत्क्रियां विरहय्य विहाय । 'ल्यपि लघुपूर्वात्' इत्ययादेशः न प्रवर्त्तते । अनादरे दानवैफल्यादिति भावः । न चैवं सर्वत्र, येनाविवेकित्वं कोशहानिश्च स्यादित्याह—प्रेति । विशेषशालिन्यतिशययोगिनी सत्क्रियाऽऽदरक्रिया गुणानुरोधेन गुणानुरागेण विना न प्रवर्त्तते । 'पृथग्विना—'इत्यादिना तृतीया । गुणेष्वेवादरो भूरि दानं चेति नोक्तदोषावकाश इत्यर्थः । अत्रोत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वविशेषणतया स्थापनादेकावल्यलङ्कारः । तदुक्तं काव्यप्रकाशे—'स्थाप्यतेऽपोह्यते वाऽपि यथापूर्वं परं परम् । विशेषणतया वस्तु यत्र सैकावली द्विधा ॥' इति ॥ १२ ॥

साम, दाम, दण्ड और भेद यह चार प्रकार की राजाओं की नीति है । इनमें साम का

प्रयोग जो सुयोधन के द्वारा किया जाता है दान के बिना नहीं किया जाता (क्योंकि लोभी पुरुष को वश में लाने के लिये दान की आवश्यकता पड़ती है)। और जो व प्रचुर मात्रा में दान करता है वह सत्कारपूर्वक करता है। और उसका विशेष सत्कार गुण के बिना नहीं होता अर्थात् वह योग्य व्यक्तियों का ही सत्कार करता है॥ १२॥

अथ दण्डप्रकारमाह—

वसूनि वाञ्छन्न वशी न मन्युना स्वधर्म इत्येव निवृत्तकारणः।
गुरूपदिष्टेन रिपौ सुतेऽपि वा निहन्ति दण्डेन स धर्मविप्लवम् ॥१३॥

वसूनीति। वशी स दुर्योधनो वसूनि धनानि वाञ्छन्न। लोभान्नेत्यर्थः। 'वसु तोये धने मणौ' इति वैजयन्ती। निहन्तीति शेषः। तथा मन्युना कोपेन न च। 'मन्युर्दैन्ये क्रतौ क्रुधि' इत्यमरः। 'धर्मशास्त्रानुसारेण क्रोधलोभविवर्जितः' इति स्मरणादित्यर्थः। किन्तु निवृत्तकारणो निवृत्तलोभादिनिमित्तः सन्स्वधर्म इत्येव। स्वस्य राज्ञः सतो ममायं धर्मो ममेदं कर्त्तव्यमित्यस्मादेव हेतोरित्यर्थः। 'अदण्ड्यान्दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्। अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति' ॥ इति स्मरणादिति भावः। गुरूपदिष्टेन प्राड्विवाकोपदिष्टेन। 'धर्मशास्त्रं पुरस्कृत्य प्राड्विवाकमते स्थितः। समाहितमतिः पश्येद् व्यवहारानुक्रमात्' ॥ इति नारदस्मरणात्। दण्डेन दमेन। शिक्षयेत्यर्थः। रिपौ सुतेऽपि वा। स्थितमिति शेषः। एतेनास्य समदर्शित्वमुक्तम्। धर्मविप्लवं धर्मव्यतिक्रमम्। अधर्ममिति यावत्। निहन्ति निवारयति। दुष्ट एवास्य शत्रुः शिष्ट एव बन्धुर्न तु सम्बन्धनिबन्धनः पक्षपातोऽस्तीत्यर्थः ॥१३॥

वह जितेन्द्रिय होकर, न तो धन की लालच से न क्रोध से किसी को दण्ड देता है या अपराध-मुक्त करता है; किन्तु वह क्रोध-लोभ से निवृत्त होकर गुरूपदिष्ट धर्मशास्त्रानुकूल शत्रु और पुत्र में भेद न समझकर, दण्ड के द्वारा धर्म-विप्लव को शमन करना अपना कर्तव्य समझता है, क्योंकि जो दण्डार्ह न हों उन्हें दण्ड देना तथा दण्डनीयों को अपराध-मुक्त करना राजा को अपयश का भागी बनाता है और पश्चात् नरक में झोंक देता है॥ १३॥

सम्प्रति भेदकौशलं दर्शयति—

विधाय रक्षान्परितः परेतरानशङ्किताकारमुपैति शङ्कितः।
क्रियाऽपवर्गेष्वनुजीविसात्कृताः कृतज्ञतामस्य वदन्ति सम्पदः ॥१४॥

विधायेति। शङ्का सञ्जाताऽस्य शङ्कितोऽविश्वस्तः सन् परितः सर्वत्र स्वपरमण्डले परेतरानात्मीयान्। अवञ्चकानिति यावत्। यद्वा परानितरयन्ति भेदेनात्मसात्कुर्वन्तीति परेतरान्। तत्करोति पयन्तात्कर्मण्यण्प्रत्ययः। रक्षन्तीति रक्षान् रक्षकान्। मन्त्रगुप्तिसमर्थानित्यर्थः। 'नन्दिग्रहि—' इत्यादिना पचाद्यच्। विधाय कृत्वा। नियुज्येत्यर्थः। अशङ्किताकारमुपैति। स्वयमविश्वस्तोऽपि विश्वस्तवदेव व्यवहरन्परमुखे-

नैव परान्भिनत्तीत्यर्थः। न च तान् रक्षानुपेक्षते येन तेऽपि विकुर्वीरन्नित्याह—क्रियेति। क्रियाऽपवर्गेषु कर्मसमाप्तिष्वनुजीविसात्कृता भृत्याधीनाः कृताः। अपरावर्तितया दत्ता इत्यर्थः। 'देये त्रा च' इति सातिप्रत्ययः। सम्पदोऽस्य राज्ञः कृतज्ञतामुपकारित्वं वदन्ति। प्रीतिदानैरेवास्य कृतज्ञत्वं प्रकाश्यते, न तु वाङ्मात्रेणेत्यर्थः। कृतज्ञे राजन्यनुजीविनोऽनुरज्यन्तेऽनुरक्ताश्च तं रक्षन्तीति भावः॥ १४ ॥

सुयोधन स्वराष्ट्र, परराष्ट्र, सब जगह मन्त्र-गोपन-समर्थ आत्मीय कर्मचारियों को कार्य्यभार सौंप कर स्वयं उनका विश्वास न कर निःशङ्कता का भावप्रदर्शनमात्र करता है। कार्य्य-समाप्ति के पश्चात् भृत्यों को वेतन के रूप में प्रदान की गयी सम्पत्तियां इसकी कृतज्ञता सूचित करती हैं॥ १४॥

अथोपायप्रयोगस्य फलवत्तां दर्शयति—

अनारतं तेन पदेषु लम्भिता विभज्य सम्यग्विनियोगसत्क्रियाः ।
फलन्त्युपायाः परिबृंहितायतीरुपेत्य संघर्षमिवार्थसम्पदः ॥१५॥

अनारतमिति। तेन राज्ञा पदेषूपादेयवस्तुषु। 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः। सम्यगसङ्कीर्णमव्यस्तं च विभज्य विविच्य। विनियोग एव सत्क्रियाऽनुग्रहः सत्कार इति यावत्। तेषां ते लम्भिताः। स्थानेषु सम्यक्प्रयुक्ता इत्यर्थः। उपायाः सामादयः। सङ्घर्षं परस्परस्पर्धामुपेत्येवेत्युत्प्रेक्षा। परिबृंहितायतीः प्रचितोत्तरकालाः स्थिरा इत्यर्थः। अर्थसम्पदोऽनारतमजस्रं फलन्ति प्रसुवत इत्यर्थः॥ १५ ॥

उसने (दुर्योधन ने) यथा-योग्य पात्र में जिन साम, दान, दण्ड और भेद नीतियों का प्रयोग किया है वे समुचित नियुक्ति से सत्कृत हो कर, एक दूसरे से परस्पर स्पर्धा करती हुई, उत्तरोत्तर वृद्धिकारिणी, ऐश्वर्य राशि का सर्वकाल प्रसव करती हैं॥ १५॥

अर्थसम्पदमेवाह—

अनेकराजन्यरथाश्वसंकुलं तदीयमास्थाननिकेतनाजिरम् ।
नयत्ययुग्मच्छदगन्धिरार्द्रतां भृशं नृपोपायनदन्तिनां मदः ॥ १६ ॥

अनेकेति। अयुग्मच्छदस्य सप्तपर्णपुष्पस्य गन्ध इव गन्धो यस्यासावयुग्मच्छदगन्धिः। 'सप्तम्युपमान—' इत्यादिना बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च। 'उपमानाच्च' इति समासान्त इकारः। नृपाणामुपायनान्युपहारभूता ये दन्तिनस्तेषां मदः। 'उपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा' इत्यमरः। राज्ञामपत्यानि पुमांसो राजन्याः क्षत्रियाः। 'राजश्वशुराद्यत्' इति यत्प्रत्ययः। राज्ञोऽपत्ये जातिग्रहणादन्। रथाश्चाश्वाश्च रथाश्वम्। सेनाङ्गत्वादेकवद्भावः। अनेकेषां राजन्यानां रथाश्वेन सङ्कुलं व्याप्तं तदीयमास्थाननिकेतनाजिरं सभामण्डपाङ्गनं भृशमत्यर्थमार्द्रतां पङ्किलत्वं नयति। एतेन महासमृद्धिरस्यो-

त्वा। अत एवोदात्तालङ्कारः। तथा चालङ्कारसूत्रम्—'समृद्धिमद्वस्तुवर्णनमुदात्तः' इति॥

सुयोधन के सभामण्डप का प्राङ्गण (आंगन) अनेक राजाओं के रथ और घोड़ों से व्याप्त रहता है। उसे राजाओं से उपहार में आये हुये मत्त हाथियों का मद, जिसमें विषमच्छद (छितौन) के गन्ध सदृश गन्ध होता है, आर्द्र बनाये रहता है। (इससे सुयोधन की अर्थ सम्पत्ति का परिचय मिलता है) ॥ १६ ॥

नोट—छितौन—इसमें सात-सात पत्ते एक-एक डंठलमें होते हैं अतः इसे विषमच्छद कहते हैं।

सम्प्रति जनपदक्षेमकरत्वमाह—

सुखेन लभ्या दधतः कृषीवलैरकृष्टपच्या इव सस्यसंपदः ।
वितन्वति क्षेममदेवमातृकाश्चिराय तस्मिन्कुरवश्चकासति ॥ १७ ॥

सुखेनेति। चिराय तस्मिन् दुर्योधने क्षेमं वितन्वति क्षेमङ्करे सति। देवः पर्जन्य एव माता येषां ते देवमातृका वृष्ट्यम्बुजीविनो देशाः। ते न भवन्तीत्यदेवमातृका नदीमातृका इत्यर्थः। 'देशो नद्यम्बुवृष्ट्यम्बुसम्पन्नव्रीहिपालितः। स्यान्नदीमातृको देवमातृकश्च यथाक्रमम्॥' इत्यमरः। एतेनास्य कुल्याऽऽदिपूर्त्तप्रवर्तकत्वमुक्तम्। कुरूणां निवासाःकुरवो जनपदविशेषाः। कृष्टेन पच्यन्त इति कृष्टपच्याः। 'राजसूय—' इत्यादिना कर्मकर्त्तरि क्यप्प्रत्ययान्तो निपातः। तद्विपरीता अकृष्टपच्या इव। कृषिर्येषामस्तीति तैः कृषीवलैः, कर्षकैरित्यर्थः। 'रजःकृषि—'इत्यादिना वलच् प्रत्ययः। 'वले' इति दीर्घः। सुखेनाक्लेशेन लभ्या लब्धुं शक्याः सस्यसम्पदो दधतो धारयन्तः। 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति नुमागमप्रतिषेधः। चकासति। सर्वोत्कर्षेण वर्त्तन्त इत्यर्थः। 'अदभ्यस्तात्' इति झेरदादेशः। 'जक्षित्यादयः षट्' इत्यभ्यस्तसञ्ज्ञा। सम्पन्नजनपदत्वादसन्तापकरत्वाच्च दुःसाध्योऽयमिति भावः॥ १७॥

(सुयोधन) चिरकाल स प्रजा के अभ्युदय के निमित्त यत्नशील रहता है। उसका राष्ट्र वृष्ट्यम्बुजीवी नहीं है किन्तु उसने आवश्यकतानुसार, जगह २ पर कुवें, तालाब और नहरों का निर्माण कराया है। कृषकों को विना अधिक परिश्रम किये ही अन्न का ढेर सुलभ है जिससे उसके देश के निवासी हरे-भरे हैं। तात्पर्य्य यह कि उसके सुप्रबन्ध से उसकी प्रजा दुष्काल का अनुभव कभी नहीं करती ॥ १७ ॥

नन्वेवं जनपदानुवर्त्तिनः कथमर्थलाभ इत्यत आह—

उदारकीर्त्तेरुदयं दयावतः प्रशान्तबाधं दिशतोऽभिरक्षया ।
स्वयं प्रदुग्घेऽस्य गुणैरुपस्नुता वसूपमानस्य वसूनि मेदिनी ॥ १८ ॥

उदारेति। उदारकीर्त्तेर्महायशसः। 'उदारो दातृमहतोः' इत्यमरः॥ दयावतः परदुःखप्रहाणेच्छोः। अत एव प्रशान्तबाधं प्रशमितोपद्रवं यथा स्यात्तथेति क्रियाविशेषणम्। उदयविशेषणं वा। 'वा दान्तशान्त—' इत्यादिना शमिधातोर्ण्यन्तान्निष्ठान्तो निपातः। अभिरक्षया सर्वतस्त्राणेनोदयं वृद्धिं दिशतः सम्पादयतो वसूपमानस्य कुबेरोपमस्य। 'वसुर्मयूखाग्निधनाधिपेषु' इति विश्वः। अस्य दुर्योधनस्य गुणैर्दया-

दाक्षिण्यादिभिरुपस्नुता द्राविता मेदिनी वसूनि धनानि । 'वसु तोये धने मणौ' इति वैजयन्ती । स्वयं प्रदुग्धे । अक्लेशेन दुह्यत इत्यर्थः । दुहेः कर्मकर्त्तरि लट् । 'न दुहस्नुनमां यक्चिणौ' इति यक्प्रतिषेधः । यथा केनचिद्विदग्धेन नवप्रसूता रक्षिता च गौः स्वयं प्रदुग्धे तद्वदिति भावः । अलङ्कारस्तु-'विशेषणमात्रसाम्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्तिः' इति सर्वस्वकारः । अत्र प्रतीयमानया गवा सह प्रकृताङ्गथा मेदिन्या भेदेऽभेदलक्षणातिशयोक्तिवशाद्दोह्यत्वेनोक्तिरिति सङ्क्षेपः ॥ १८ ॥

परम यशस्वी और दयालु, चारों तरफ से रक्षा की सुव्यवस्था से निर्विघ्न अभ्युदय का सम्पादन करते हुये और कुबेरसदृश उस सुयोधन के राज्य की वसुन्धरा उसके गुणों से प्रसन्न होकर विना परिश्रम सम्पत्ति प्रदान करती है ॥ १८ ॥

वीरभटानुकूल्यमाह—

महौजसो मानधना धनार्चिता धनुर्भृतः संयति लब्धकीर्त्तयः ।
नसंहतास्तस्य नभिन्नवृत्तयः प्रियाणि वाञ्छन्त्यसुभिः समीहितुम् ॥१९॥

महौजस इति । महौजसो महाबलाः । अन्यथा दुर्बलानामनुपकारित्वादिति भावः । मानः कुलशीलाद्यभिमान एव धनं येषां ते मानधनाः । अन्यथा कदाचिद् बलदर्पाद्विकुर्वीरन्निति भावः । धनार्चिताः धनैरर्चिताः सत्कृताः । अन्यथा दारिद्र्यादेनं जह्युरिति भावः । संयति सङ्ग्रामे लब्धकीर्त्तयः । बहुयशस इत्यर्थः । अन्यथा कदाचिन्मुह्येयुरिति भावः । संहता मिथः सङ्गताः स्वार्थनिष्ठा न भवन्तीति नसंहताः । नञर्थस्य नशब्दस्य 'सुप्सुपे'ति समासः । भिन्नवृत्तयो मिथो विरोधात्स्वामिकार्यंकरा न भवन्तीति नभिन्नवृत्तयः । पूर्ववत्समासः । अन्यथा स्वामिकार्यविघातकतया स्वामिद्रोहिणः स्युरित्युभयत्रापि तात्पर्यार्थः । धनुर्भृतो धानुष्काः । आयुधीयमात्रोपलक्षणमेतत् । प्राधान्याद्धनुर्ग्रहणम् । तस्य दुर्योधनस्यासुभिः प्राणैः प्रियाणि समीहितुं कर्तुं वाञ्छन्ति । आनृण्यार्थं प्राणान्दातुमिच्छन्ति । अन्यथा दोषस्मरणादिति भावः । अत्र महौजसादिपदार्थानां प्राणदानकर्तव्यतां प्रति विशेषणगत्या हेतुत्वाभिधानात्काव्यलिङ्गमलङ्कारः । लक्षणं तूक्तम् । तथा साभिप्रायविशेषणत्वात्परिकरालङ्कार इति द्वयोस्तिलतण्डुलवद् विभक्ततया स्फुरणात्संसृष्टिः ॥ १९ ॥

(उसकी सेना के) धनुर्धर जो महाबलिष्ठ हैं, जिन्हें अपनी कुलीनता का गर्व है, द्रव्यादि से सत्कृत हैं, समराङ्गण में लब्धप्रतिष्ठ हैं, घूसखोरी में एक दूसरे से मिले हुये भी नहीं रहते हैं, और अवसर पर अपनी-अपनी खीर नहीं पकाते: ऐसे उसके योद्धा अपने प्राणों से उसके कल्याण की कामना करते-रहते हैं ॥ १९ ॥

सम्प्रति स्वराष्ट्रवत्परराष्ट्रवृत्तान्तमपि वेत्तीत्याह—

महीभृतां सच्चरितैश्चरैः क्रियाः स वेद निश्शेषमशेषितक्रियः ।
महोदयैस्तस्य हितानुबन्धिभिः प्रतीयते धातुरिवेहितं फलैः ॥ २० ॥

महीभृतामिति । अशेषितक्रियः समापितकृत्यः । आफलोदयकर्मेत्यर्थः । स

दुर्योधनः सचरितैः शुद्धचरितैः। अवञ्चकैरित्यर्थः। चरन्तीति चरास्तैश्चरैः। प्रणिधिभिः। पचाद्यच्। महीभृतां क्रियाः प्रारम्भान्निःशेषं वेद वेत्ति। 'विदो लटो वा' इति णलादेशः। स्वरहस्यं तु न कश्चिद्वेदेत्याह—महोदयैरिति। धातुरिव तस्य दुर्योधनस्येहितमुद्योगो महोदयैर्महावृद्धिभिः। हितमनुबध्नन्त्यनुबध्नन्तीति हितानुबन्धिभिः। स्वन्तैरित्यर्थः। फलैः कार्यसिद्धिभिः प्रतीयते ज्ञायते। फलानुमेयास्तस्य प्रारम्भा इत्यर्थः॥ २०॥

वह (सुयोधन) जिस कार्य्य का आरम्भ करता है उसे समाप्त करके ही छोड़ता है, वह अपने शुद्ध व्यवहार करने वाले गुप्तचरों से राजाओं का सम्पूर्ण वृत्तान्त जानता है। उसके शुभेच्छु लोग भी, ईश्वरीय इच्छा के समान क्रियाजनित प्रचुर फलसिद्धि से उसके कार्य्य का अनुमान कर सकते हैं। सारांश यह कि कार्य्य निष्पन्न होने पर ही उसका भेद खुलता है॥ २०॥

मित्रबलमाह—

न तेन सज्यं क्वचिदुद्यतं धनुः कृतं न वा कोपविजिह्ममाननम्।
गुणानुरागेण शिरोभिरुह्यते नराधिपैर्माल्यमिवास्य शासनम्॥२१॥

नेति। तेन राज्ञा क्वचित्कुत्रापि। सह ज्यया मौर्व्या सज्यम्। 'मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुणः' इत्यमरः। 'तेन सहेति तुल्ययोगे' इति बहुव्रीहिः। धनुर्नोद्यतं नोर्ध्वीकृतम्। आननं च कोपविजिह्मं कोपकुटिलं न कृतम्। यस्य कोप एव नोदेति कुतस्तस्य युद्धप्रसक्तिरिति भावः। कथं तर्ह्याज्ञां कारयति राज्ञ इत्यत्राह—गुणेति। गुणेषु दयादाक्षिण्यादिष्वनुरागेण प्रेम्णा। माल्यपक्षे सूत्रानुषङ्गेण। यद्वा सौरभ्यगुणलाभेन। नराधिपैरस्य शासनमाज्ञा। मालैव माल्यं तदिव। 'चातुर्वर्ण्यादित्वात्स्वार्थे ष्यञ्' इति क्षीरस्वामी। शिरोभिरुह्यते धार्यते। 'वचिस्वपियजादीनां किति' इति यकि सम्प्रसारणम्। अत्रोपमा स्फुटैव॥ २१॥

उसने धनुष पर प्रत्यञ्चा (डोरी) आरोपित करके किसी को युद्ध के लिये आह्वान नहीं किया और न तो क्रोध से भ्रूभङ्ग ही किया, तथापि राजन्य वर्ग उसके दान-दाक्षिण्यादि गुणों से आकृष्ट होकर पुष्पमाला की भाँति उसकी आज्ञा शिरोधार्य्य करता है॥ २१॥

प्रसङ्गात्तस्य धार्मिकत्वमाह—

स यौवराज्ये नवयौवनोद्धतं निधाय दुःशासनमिद्धशासनः।
मखेष्वखिन्नोऽनुमतः पुरोधसा धिनोति हव्येन हिरण्यरेतसम्॥२२॥

स इति। इद्धशासनोऽप्रतिहताज्ञः स दुर्योधनो नवयौवनोद्धतं प्रगल्भम्। धुरन्धरमित्यर्थः। दुःखेन शास्यत इति दुःशासनस्तम्। 'भाषायां शासियुधि—' इत्यादिना खलर्थे युच्प्रत्ययः। यौवराज्ये युवराजकर्मणि। ब्राह्मणादित्वात्ष्यञ्। निधाय। नियुज्येत्यर्थः। पुरोधसा पुरोहितेनानुमतोऽनुज्ञातः। तस्मिन्याजके सतीत्यर्थः। तदुल्लङ्घने दोषस्मरणादिति भावः। 'निष्ठा' इति भूतार्थे क्तः। न तु 'मति-

द्धिः' इत्यादिना वर्त्तमानार्थे । अन्यथा 'पुरोधसा' इत्यत्र 'क्तस्य च वर्त्तमाने' इति षष्ठी स्यात् । अखिन्नोऽनलसो मखेषु क्रतुषु हव्येन हविषा । हिरण्यं रेतो यस्य तं हिरण्यरेतसमनलं धिनोति प्रीणयति । धिन्वेः प्रीणनार्थाद् 'धिन्विकृण्व्योर च' इत्युप्रत्ययः । अकारश्चान्तादेशः ॥ २२ ॥

सुयोधन का आशाभङ्ग कभी नहीं होता । वह अभिनव युवावस्था से धृष्ट दुश्शासन को युवराज बनाकर, पुरोहित की आज्ञा से, (सर्वथा) आलस्य का परित्याग करके यज्ञ में अग्निदेव को हव्यादि प्रदान द्वारा प्रसन्न करता है ॥ २२ ॥

न चैतावता निरुद्योगैर्भाव्यमित्याशङ्क्याशां दर्शयति—

प्रलीनभूपालमपि स्थिरायति प्रशासदावारिधि मण्डलं भुवः ।
स चिन्तयत्येव भियस्त्वदेष्यतीरहो दुरन्ता बलवद्विरोधिता ॥ २३॥

प्रलीनेति । स दुर्योधनः प्रलीनभूपालम् । निःसपत्नमित्यर्थः । स्थिरायति । चिरस्थायीत्यर्थः । भुवो मण्डलमा वारिधिभ्य आवारिधि । 'आङ्मर्यादाऽभिविध्योः' इत्यव्ययीभावः । प्रशासदाज्ञापयन्नपि । 'जक्षित्यादयः षट्' इत्यभ्यस्तसंज्ञा । 'नाभ्यस्ताच्छतुः' इति नुमागमप्रतिषेधः । त्वत् त्वत्त एष्यतीरागमिष्यतीः । धातूनामेकार्थत्वादुक्तार्थसिद्धिः । अथवाऽऽङ्पूर्वः पाठः । 'एत्येधत्यूठ्सु' इति वृद्धिः । 'लृटः सद्वा' इति शतृप्रत्ययः । 'उगितश्च' इति ङीप् । 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति विकल्पान्नुमभावः । भियो भयहेतून् । विपद इत्यर्थः । चिन्तयत्यालोचयत्येव । स एवाह—अहो बलवद्विरोधिता दुरन्ता दुष्टावसाना । सार्वभौमस्यापि प्रबलैः सह वैरायमाणत्वमनर्थपर्यवसाय्येवेति तात्पर्यम् । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ २३ ॥

वह समुद्र-पर्य्यन्त भूमण्डल का शासन करता है । शत्रु नष्ट हो गये हैं । राज्य भी स्थिर हो चला है । तथापि आप से (युधिष्ठिर से) आने वाले भय की चिन्ता करता ही रहता है । यह बात ठीक ही है कि प्रबलों के साथ विरोध करने का फल अमङ्गलकारी होता है ॥

ननु गूढाकारेङ्गितस्य तस्य भयं त्वया कथं निरधारीत्यत्राह—

कथाप्रसङ्गेन जनैरुदाहृतादनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः ।
तवाभिधानाद् व्यथते नताननः स दुःसहान्मन्त्रपदादिवोरगः ॥२४॥

कथेति । कथाप्रसङ्गेन गोष्ठीवचनेन जनैः । अन्यत्र कथाप्रसङ्गेन विषवैद्येन । 'कथाप्रसङ्गो वार्त्तायां विषवैद्येऽपि वाच्यवत्' इति विश्वः । एकवचनस्यातन्त्रत्वाज्जनविशेषणम् । उदाहृतादुच्चारितात्तवाभिधानान्नामधेयात्स्मारकाद्धेतोः । 'हेतौ' इति पञ्चमी । 'आख्याह्वे अभिधानं च नामधेयं च नाम च' इत्यमरः । अन्यत्र तवाभिधानात् । 'नामैकदेशग्रहणे नाममात्रग्रहणम्' इति न्यायात्तश्च वश्च तवौ तार्क्ष्यवासुकी तयोरभिधानं यस्मिन्पदे तस्मात् । यद्वा कथाप्रसङ्गे इनाश्च ते जनाश्चेत्येकं पदम् ।

अनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः स्मृतार्जुनपराक्रमः सुदुःसहादतिदुःसहान्मन्त्रपदान्मन्त्रशब्दात्स्मारकाद्धेतोः। आखण्डलसूनुरिन्द्रानुजः। उपेन्द्रो विष्णुरिति यावत्। 'सूनुः पुत्रेऽनुजे रवौ' इति विश्वः। तस्य विः पक्षी। गरुड इत्यर्थः। तस्य क्रमः पादविक्षेपः। सोऽनुस्मृतो येन स तथोक्तः, स्मृतगरुडमहिमा। उरग इव नताननः सन्। व्यथते दुःखायते। 'पीडा बाधा व्यथा दुःखम्' इत्यमरः। अत्युत्कटभयदोषादिविकारा दुर्वारा इति भावः। 'सर्वतो जयमन्विच्छेत्पुत्रादिच्छेत्पराजयम्' इति न्यायादर्जुनोत्कर्षकथनं युधिष्ठिरस्य भूषणमेवेति सर्वमवदातम्॥ २४॥

जिस तरह भुजङ्गम (सर्प) मन्त्रवेत्ता से उच्चारित गरुड़ और नागको के नामयुक्त असह्य मन्त्रपद से गरुड़ के पराक्रम का स्मरण करके नतमस्तक हो जाता है; ठीक वही दशा सुयोधन की हो जाती है। जब कभी जनसमूह की चर्चा में आप का नाम किसी के मुँह से निकल जाता है तो वह उसे सहन करने में असमर्थ हो जाता है और अर्जुन के बल का संस्मरण कर सिर झुका लेता है अर्थात् उसका हृदय प्रतिक्षण सन्तप्त हुआ करता है॥

निगमयति—

तदाशु कर्तुं त्वयि जिह्ममुद्यते विधीयतां तत्र विधेयमुत्तरम्।
परप्रणीतानि वचांसि चिन्वतां प्रवृत्तिसाराः खलु मादृशां गिरः॥२५॥

तदिति। तत्तस्मात्त्वयि जिह्मं कपटं कर्तुमुद्यते। त्वां जिघांसावित्यर्थः। तत्र तस्मिन्दुर्योधने विधेयं कर्त्तव्यमुत्तरं प्रतिक्रियाऽऽशु विधीयतां क्रियताम्। ननु कर्त्तव्यमपि त्वयैवोच्यतामिति चेत्तत्राह—परेति। परप्रणीतानि परोक्तानि वचांसि चिन्वतां गवेषयतां मादृशाम्। वार्त्ताहारिणामित्यर्थः। गिरः प्रवृत्तिसारा वार्तामात्रसाराः खलु। 'वार्त्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्तः' इत्यमरः। वार्त्तामात्रवादिनो वयम् न तु कर्त्तव्यार्थोपदेशसमर्थाः। अतस्त्वयैव निर्धार्यं कार्यमिति भावः। सामान्येन विशेषसमर्थनादर्थान्तरन्यासः॥ २५॥

इस लिये, आपको चाहिये कि आपके समूल निर्मूलन करने की चेष्टा में लगे हुए दुर्योधन की प्रतिकिया शीघ्रातिशीघ्र करें (यदि आप कहें कि जिस तरह वृत्तान्त बतलाते हो उसी तरह उपाय भी बतलाओ) तो यह हो नहीं सकता, क्यों कि हम लोग दूसरे के आधार पर समाचार के संग्रह करने वाले हैं, वार्त्तामात्र के संग्रह का कार्य्य हम लोगों से कराना चाहिए॥ २५॥

इतीरयित्वा गिरमात्तसत्क्रिये गतेऽथ पत्यौ वनसन्निवासिनाम्।
प्रविश्य कृष्णासदनं महीभुजा तदाचचक्षेऽनुजसंनिधौ वचः॥२६॥

इतीति। वनसंनिवासिनां पत्यौ वनेचराधिप इति गिरमीरयित्वोक्त्वाऽऽत्तसत्क्रिये गृहीतपारितोषिके गते सति। 'तुष्टिदानमेव चाराणां हि वेतनम्। ते हि तल्लोभात्

स्वामिकार्येष्वतीव त्वरयन्ते' इति नीतिवाक्यामृते। अथ महीभुजा राज्ञा कृष्णा-सदनं द्रौपदीभवनं प्रविश्यानुजसंनिधौ तद्वनेचरोक्तं वचो वाक्यमाचचक्षे आख्यातम्। अथवा कृष्णेति पदच्छेदः। सदनं प्रविश्यानुजसन्निधौ तद्वच कृष्णाऽऽचचक्षे आख्याता। चक्षिङो दुहादेर्द्विकर्मकत्वादप्रधाने कर्मणि लिट् ॥ २६ ॥

पूर्वोक्त संदेशों को निवेदित कर तथा पुरस्कार प्राप्तकर, वनचरराज के चले जाने पर महाराज युधिष्ठिर पाञ्चाली (द्रौपदी) के कुटीर में गये और वहाँ भाइयों के समीप द्रौपदी से सारा वृत्तान्त कह सुनाये ॥ २६ ॥

निशम्य सिद्धिं द्विषतामपाकृतीस्ततस्ततस्त्या विनियन्तुमक्षमा ।
नृपस्य मन्युव्यवसायदीपिनीरुदाजहार द्रुपदात्मजा गिरः ॥२७॥

निशम्येति। अथ द्रुपदात्मजा द्रौपदी द्विषतां सिद्धिं वृद्धिरूपां निशम्य ततस्त-दनन्तरम्। ततो द्विषद्भ्य आगतास्ततस्त्याः। 'अव्ययात्त्यप्' इति त्यप्। अपाकृती-र्विकारान्विनियन्तुं निरोद्धुमक्षमा सती नृपस्य युधिष्ठिरस्य मन्युव्यवसाययोः क्रोधो-द्योगयोर्दीपिनीः संवर्धिनीर्गिरो वाक्यान्युदाजहार। जगादेत्यर्थः ॥ २७ ॥

द्रौपदी शत्रुओं के अभ्युदय की वार्ता सुन, उनसे किये गये अपकारों का स्मरण कर अपने आपको रोक न सकी और महाराज के क्रोध तथा उद्योग का उद्बोधक वाक्य बोलीं।

भवादृशेषु प्रमदाजनोदितं भवत्यधिक्षेप इवानुशासनम् ।
तथाऽपि वक्तुं व्यवसाययन्ति मां निरस्तनारीसमया दुराधयः ॥२८॥

भवादृशेष्विति। भवादृशो भवद्विधाः। पण्डिता इत्यर्थः। तेषु विषये। 'त्यदा-दिषु—' इत्यादिना कञ्। 'आ सर्वनाम्नः' इत्याकारादेशः। प्रमदाजनोदितं स्त्रीजनोक्तम्। वदेः क्तः। 'वचिस्वपि—'इत्यादिना सम्प्रसारणम्। अनुशासनं नियोगवचनमधिक्षे-पस्तिरस्कार इव भवति। अतो न युक्तं वक्तुमित्यर्थः। तथाऽपि वक्तुमनुचितत्वेऽपि निरस्तनारीसमयास्त्यजितशालीनतारूपस्त्रीसमाचाराः। 'समयाः शपथाचारकाल-सिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः। दुराधयःसमयोल्लङ्घनहेतुत्वाद् दुष्टा मनोव्यथाः। 'पुंस्या-धिर्मानसी व्यथा' इत्यमरः। मां वक्तुं व्यवसाययन्ति प्रेरयन्ति। न किञ्चिदयुक्तं दुःखिनामिति भावः ॥ २८ ॥

महाराज के सदृश व्यक्ति के विषय में स्त्री-जाति का नियोगवचन निन्दा की तरह होता है। पर क्या करूँ, मेरी प्रबल मानसिक वेदना स्त्रियों की कर्तव्य-मर्यादा का उल्लङ्घन कर कहने के लिये वाध्य करती है। व्यथित हृदय व्यक्ति जो कुछ कहें, सब थोड़ा है ॥ २८ ॥

अखण्डमाखण्डलतुल्यधामभिश्चिरं धृता भूपतिभिः स्ववंशजैः ।
त्वयाऽऽत्महस्तेन मही मदच्युता मतङ्गजेन स्रगिवापवर्जिता ॥२९॥

अखण्डमिति । आखण्डलतुल्यधामभिरिन्द्रतुल्यप्रभावैः । स्ववंशजैर्भूपतिभिर्भरतादिभिश्चिरमखण्डमविच्छिन्नं धृता मही । त्वया । मदं श्च्योततीति मदच्युत् । क्विप् । तेन मदस्राविणा मतङ्गजेन स्रगिवास्महस्तेन स्वकरेण स्वचापलेनेत्यर्थः । अपवर्जिता परिहृता त्यक्ता । स्वदोषादेवायमनर्थागम इत्यर्थः ॥ २९ ॥

इन्द्र के सदृश तेजस्वी आप के पूर्वजों ने (भरतादिकों ने) इस वसुन्धरा का अविच्छिन्न उपभोग किया है जिससे आप स्वयं इतनी सरलतापूर्वक हाथ धो बैठे, जितनी सरलता से एक मदस्रावी गजराज सुमनोग्रथित माल्य को ध्वस्त कर देता है अर्थात् पूर्वजों की सञ्चित सम्पत्ति को आप ने बिना किसी प्रयास के ही खो दिया है ॥ २९ ॥

'स्वदोषादेवायमनर्थागम' इत्युक्तम् । स च दोषः कुटिलेष्वकौटिल्यमेवेत्याह—

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः ।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधानसंवृताङ्गान्निशिता इवेषवः ॥ ३० ॥

व्रजन्तीति । मूढधियो निर्विवेकबुद्धयस्ते पराभवं व्रजन्ति, ये मायाविषु मायावस्तुविषये । 'अस्मायामेधा—' इत्यादिना विनिप्रत्ययः । मायिनो मायावन्तः । व्रीह्यादित्वादिनिप्रत्ययः । न भवन्ति । अत्रैवार्थान्तरं न्यस्यति—प्रविश्येति । शठा अपकारिणो धूर्त्तास्तथाविधानकुटिलानसंवृताङ्गानवर्मितशरीरान्निशिता इषव इव प्रविश्य प्रवेशं कृत्वाऽऽत्मीया भूत्वा घ्नन्ति हि । 'आर्जवं हि कुटिलेषु न नीति'रिति भावः ॥ ३० ॥

वे अविवेकी पुरुष (सर्वदा) पराजित होते हैं जो मायावियों के समक्ष मायावी नहीं बनते अर्थात् 'शठे शाठ्यं समाचरेत्' इस नीति का अवलम्बन नहीं करते । मायावी (वञ्चक) सरलचित्त व्यक्तियों के अन्तःकरण की बातें जानकर इस प्रकार गला घोंटते हैं जैसे तीक्ष्ण धार वाले बाण कवच-रहित शरीर में प्रवेश कर घातक बन जाते हैं ॥ ३० ॥

न च लक्ष्मीचाञ्चल्यादयमनर्थागमः, किन्तु स्वोपेक्षादोषमूलत्वादित्याशयेनाह—

गुणानुरक्तामनुरक्तसाधनः कुलाभिमानी कुलजां नराधिपः ।
परैस्त्वदन्यः क इवापहारयेन्मनोरमामात्मवधूमिव श्रियम् ॥ ३१ ॥

गुणेति । अनुरक्तसाधनोऽनुकूलसहायवान् । उक्तं च कामन्दकीये—'उद्योगादनिवृत्तस्य ससहायस्य धीमतः । छायेवानुगता तस्य नित्यं श्रीः सहचारिणी ॥' इति । कुलाभिमानी क्षत्रियत्वाभिमानी कुलीनत्वाभिमानी च त्वदन्यस्त्वत्तोऽन्यः । 'अन्यारात्—' इत्यादिना पञ्चमी । क इव नराधिपो गुणैः सन्ध्यादिभिः सौन्दर्यादिभिश्चानुरागिणीं कुलजां कुलक्रमादागतां कुलीनां च मनोरमां श्रियमात्मवधूमिव स्वभार्यामिव 'वधूर्जाया स्नुषा स्त्री च' इत्यमरः । परैः शत्रुभिरन्यैश्चापहारयेत् । स्वयमेवापहारं कारयेदित्यर्थः । कलत्रापहारवद्राज्यापहारोऽपि राज्ञा मानहानिकरत्वादनुपेक्षणीय इति भावः ॥ ३१ ॥

आप के अतिरिक्त इस वसुधातल में कौन ऐसा राजा है जो अनुकूल सहायक सामग्रियों के रहते हुये, तथा जिस को क्षत्रिय होने का गर्व है, सन्धि आदि तथा सौन्दर्य आदि राजोचित गुणों से अनुरक्त, वंश-परम्परा से रक्षित राज्यश्री को अपनी मनोरमा प्रियतमा की भाँति (देखते हुये) अपहृत होने देगा ॥ ३१ ॥

अथ दशभिः कोपोद्दीपनं करोति—

भवन्तमेतर्हि मनस्विगर्हिते विवर्त्तमानं नरदेव ! वर्त्मनि ।
कथं न मन्युर्ज्वलयत्युदीरितः शमीतरुं शुष्कमिवाग्निरुच्छिखः ॥३२॥

भवन्तमिति । नरदेव ! हे नरेन्द्र ! एतर्हीदानीम्, अस्मिन्नापत्कालेऽपीत्यर्थः । 'एतर्हि सम्प्रतीदानीमधुना साम्प्रतं तथा' इत्यमरः । 'इदमो र्हिल्' इति र्हिल्प्रत्ययः । 'एतेतौ रथोः' इत्येतादेशः । आपदमेवाह—मनस्विगर्हिते शूरजनजुगुप्सिते वर्त्मनि मार्गे विवर्त्तमानम्, शत्रुकृतां दुर्दशामनुभवन्तमित्यर्थः । भवन्तं त्वामुदीरित उद्दीपितो मन्युः क्रोधः । शुष्कं नीरसम् । 'शुषः कः' इति निष्ठातकारस्य ककारः । शमी चासौ तरुश्चेति विशेषणसमासः । तम् । शमीग्रहणं शीघ्रज्वलनस्वभावात्कृतम् । उच्छिख उद्गतज्वालः । 'घृणिज्वाले अपि शिखे' इत्यमरः । वह्निरिव । कथं न ज्वलयति । ज्वलयितुमुचितमित्यर्थः । 'मितां ह्रस्वः' ॥ ३२ ॥

महाराज ! सम्प्रति आप शूरवीरों से गर्हित पद का अनुसरण कर रहे हैं । प्रखर ज्वालायुक्त अग्नि जिस तरह नीरस शमी वृक्ष को जला कर भस्म कर देता है उसी तरह आप का प्रबल क्रोध आप को क्यों नहीं उत्तेजित करता ? ॥ ३२ ॥

नन्वन्तःशत्रुत्वादयं क्रोधस्त्याज्य एवेत्याशङ्क्याह—

अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः ।
अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः ॥३३॥

अवन्ध्येति । अवन्ध्यः कोपो यस्य तस्यावन्ध्यकोपस्यात एवापदां विहन्तुर्निग्रहानुग्रहसमर्थस्येत्यर्थः । पुंस इति शेषः । देहिनो जन्तवः स्वयमेव वश्या वशंगता भवन्ति । 'वशं गतः' इति यत्प्रत्ययः । अतस्त्वया कोपिना भवितव्यमित्यर्थः । व्यतिरेके त्वनिष्टमाचष्टे—अमर्षशून्येन निष्कोपेन जन्तुना । कन्यया शोक इतिवत् 'हेतौ' इति तृतीया । हृदयस्य कर्म हार्दं स्नेहः । 'प्रेमा ना प्रियता हार्दं प्रेम स्नेहः' इत्यमरः । युवादित्वादण् । 'हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु' इति हृदादेशः । जातहार्देन जातस्नेहेन सता जनस्यादरो न । विद्विषा द्विषता च सतादरो न । अमर्षहीनस्य रागद्वेषावकिञ्चित्करत्वादगण्यावित्यर्थः । अथवा विद्विषा सता दरो भयं न । 'दरोऽस्त्रियां भये श्वभ्रे' इत्यमरः । एतस्मिन्नेव प्रयोगे सन्धिवशाद् द्विधा पदच्छेदः । पुंवाक्येषु न दोषः । अतः स्थाने कोपः कार्यस्त्याज्यस्त्वस्थाने कोप इति भावः ॥ ३३ ॥

जिसका क्रोध कुछ न कुछ कर के दिखा देता है और जो आपत्तियों को दूर भगाता है ऐसे पुरुष की पराधीनता लोग स्वयं स्वीकार कर लेते हैं। क्रोध से रहित मित्र का कोई आदर भी नहीं करता और क्रोधविहीन शत्रु से कोई भय भी नहीं खाता ॥ ३३ ॥

परिभ्रमँल्लोहितचन्दनोचितः पदातिरन्तर्गिरि रेणुरूषितः।
महारथः सत्यधनस्य मानसं दुनोति नो कच्चिदयं वृकोदरः॥ ३४॥

परिभ्रमन्निति। लोहितचन्दनोचित उचितलोहितचन्दनः। 'वाऽऽहिताग्न्यादिषु' इति साधुः। अभ्यस्तरक्तचन्दन इत्यर्थः। 'अभ्यस्तेऽप्युचितं न्याय्यम्' इति यादवः। महारथो रथचारी। उभयत्रापि प्रागिति शेषः। अद्य तु रेणुरूषितो धूलिच्छुरितः पादाभ्यामतति गच्छतीति पदातिः पादचारी 'अजयतिभ्यां च' इत्यनुवृत्तौ 'पादे च' इत्यौणादिक इण्प्रत्ययः। 'पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु' इति पदादेशः। अन्तर्गिरि गिरिष्वन्तः। विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। 'गिरेश्च सेनकस्य' इति विकल्पात्समासान्ताभावः। परिभ्रमन्नयं वृकोदरो भीमः। सत्यधनस्येति सोल्लुण्ठनवचनम्। अद्यापि त्वया सत्यमेव रचयते, न तु भ्रातर इति भावः। तवेति शेषः। मानसं नो दुनोति कच्चिन्न परितापयति किम्। 'कच्चित्कामप्रवेदने' इत्यमरः। स्वाभिप्रायाविष्करणं कामप्रवेदनम् ॥ ३४ ॥

पहिले तो यह भीम रक्तचन्दन का अभ्यासी थे और उत्तम रथ पर बैठ कर भ्रमण करते थे, इदानीं वही रजकण से व्याप्त होकर पैदल पर्वत-पथ पर विचरण करते हैं। तो क्या उनकी यह दशा देख कर सत्य-पूजक (युधिष्ठिर) का मन सन्तप्त नहीं होता ? ॥३४॥

विजित्य यः प्राज्यमयच्छदुत्तरान्कुरूनकुप्यं वसु वासवोपमः।
स वल्कवासांसि तवाधुनाऽऽहरन् करोति मन्युं न कथं धनञ्जयः॥३५॥

विजित्येति। वासव इन्द्र उपमा उपमानं यस्य स वासवोपम इन्द्रतुल्यो यो धनञ्जयः, उत्तरान्कुरून्मेरोरुत्तरान्मानुषान्देशविशेषान्विजित्य प्राज्यं प्रभूतम्। 'प्रभूतं प्रचुरं प्राज्यम्' इत्यमरः। कुप्यादन्यदकुप्यं हेमरूप्यात्मकम्। 'स्यात्कोशश्च हिरण्यं च हेमरूप्यं कृताकृते। ताभ्यां यदन्यत्तत्कुप्यम्' इत्यमरः। वसु धनमयच्छद् दत्तवान्। 'पाघ्रा-'इत्यादिना दाणो यच्छादेशः। स धनं जयतीति धनञ्जयोऽर्जुनः। 'संज्ञायां भृतॄवृजि-'इत्यादिना खच्प्रत्ययः'। 'अरुर्द्विषद्-'इत्यादिना मुमागमः। अधुनाऽस्मिन्काले। 'अधुना' इति निपातनात्साधुः। तव वल्कवासांस्याहरन्कथं तव मन्युं क्रोधं दुःखं वा न करोति ॥ ३५ ॥

देवेश के समान पराक्रमशाली जिस अर्जुन ने सुमेरु के उत्तरनिवासियों पर विजय-पताका आरोपित कर सम्पत्ति लाकर समर्पित किया था, आज वही अर्जुन वल्कलवस्त्रधारी बने हुए हैं क्या उनकी इस दयनीय दशा को देखकर भी आप का क्रोध जागृत नहीं होता ? ॥

वनान्तशय्याकठिनीकृताकृती कचाचितौ विष्वगिवागजौ गजौ ।
कथं त्वमेतौ धृतिसंयमौ यमौ विलोकयन्नुत्सहसे न बाधितुम् ॥ ३६ ॥

वनान्तेति । वनान्तो वनभूमिरेव शय्या तया कठिनीकृताकृती कठिनीकृतदेहौ। 'आकारो देह आकृतिः' इति वैजयन्ती। विष्वक्समन्तात्। 'समन्ततस्तु परितः सर्वतो विष्वगित्यपि' इत्यमरः। कचाचितौ कचव्याप्तौ। विशीर्णकेशावित्यर्थः। अत एवागजौ गिरिसम्भवौ गजाविव स्थितावेतौ यमौ युग्मजातौ, माद्रीपुत्रावित्यर्थः। 'यमो दण्डधरे ध्वाङ्क्षे संयमे यमजेऽपि च' इति विश्वः। विलोकयंस्त्वं कथं धृतिसंयमौ सन्तोषनियमौ। 'धृतिर्योगान्तरे धैर्ये धारणाध्वरतुष्टिषु' इति विश्वः। बाधितुं नोत्सहसे न प्रवर्त्तसे। 'शकधृ–'इत्यादिना तुमुन्। अहो ते महद्धैर्यमिति भावः ॥ ३६ ॥

बलिहारी है आप के इस धैर्य्य की ! ये सहजात नकुल और सहदेव बनैले हाथियों के सदृश हो गये हैं वनस्थली पर शयन करने से इनके शरीर में घट्ठे पड़ गये हैं। इनके केशपाश बिखरे हुये हैं। इन्हें देखकर क्या आप धैर्य्य और नियम का परित्याग करने के लिये तय्यार नहीं हो रहे हैं ॥ ३६ ॥

अथ राज्ञो दुर्दशां दर्शयितुमुपोद्घातमाह। प्रकृतार्थं वर्णयितुमर्थान्तरवर्णनमुपोद्घातः।

इमामहं वेद न तावकीं धियं विचित्ररूपाः खलु चित्तवृत्तयः ।
विचिन्तयन्त्या भवदापदं परां रुजन्ति चेतः प्रसभं ममाधयः ॥३७॥

इमामिति । इमां वर्त्तमानाम्। तवेमां तावकीं त्वदीयाम्। 'तस्येदम्' इत्यण्प्रत्ययः। 'तवकममकावेकवचने' इति तवकादेशः। धियं त्वदापद्विषयां चित्तवृत्तिमहं न वेद कीदृशी वा न वेद्मि। परबुद्धेरप्रत्यक्षत्वादिति भावः। 'विदो लटो वा' इति लटो णलादेशः। न चात्मदृष्टान्तेनापक्षत्वाद् दुःखित्वमनुमातुं शक्यते। धीरादिष्वनैकान्तिकत्वादित्याशयेनाह—चित्तवृत्तयो विचित्ररूपा धीराधीराद्यनेकप्रकाराः खलु। किन्तु परामुत्कृष्टां भवदापदं विचिन्तयन्त्या भावयन्त्या मम चेतश्चित्तम्। आधयो मनोव्यथाः। 'उपसर्गे घोः किः' इति किप्रत्ययः। प्रसभं प्रसह्य रुजन्ति भञ्जन्ति। 'रुजो भङ्गे' इति धातोर्लट्। पश्यतामपि दुःसहा दुःखजननी त्वद्विपत्तिरनुभवितारं त्वां न विकरोतीति महच्चित्रमित्यर्थः। चेत इति 'रुजार्थानां भाववचनानामज्वरेः' इति षष्ठी न भवति। तत्र शेषाधिकाराच्छेषत्वस्य विवक्षितत्वादिति ॥ ३७ ॥

मुझे आप की इस बुद्धि का परिचय नहीं मिलता। लोगों की चित्तवृत्तियाँ विलक्षण होती हैं। आप की इन असीम आपत्तियों का स्मरण कर मेरे हृदय में खलबली मच जाती है अर्थात् आप की विपत्तियों के देखने वालों को तो प्रबल वेदना होती है परन्तु न जाने क्यों आप पर इस का प्रभाव नहीं पड़ता ? ॥ ३७ ॥

तदापदमेव श्लोकत्रयेणाह—

पुराऽधिरूढः शयनं महाधनं विबोध्यसे यः स्तुतिगीतिमङ्गलैः ।
अदभ्रदर्भामधिशय्य स स्थलीं जहासि निद्रामशिवैः शिवारुतैः ॥३८॥

पुरेति । यस्त्वं महाधनं बहुमूल्यं श्रेष्ठम् । 'महाधनं महामूल्ये' इति विश्वः । शयनं शय्यामधिरूढः सन् स्तुतयो गीतयश्च ता एव मङ्गलानि तैः करणभूतैः पुरा विबोध्यसे । वैतालिकैरिति शेषः । पूर्वं बोधित इत्यर्थः । 'पुरि लङ् चास्मे' इति भूतार्थे लट् । स त्वमदभ्रदर्भां बहुकुशाम् 'अस्त्री कुशं कुशो दर्भः' इति । 'अदभ्रं बहुलं बहु' इति चामरः । स्थलीमकृत्रिमभूमिम् । 'जानपद—'इत्यादिना कृत्रिमार्थे ङीप् । एतेन दुःसहस्पर्शत्वमुक्तम् । 'अधिशीङ्स्थाऽऽसां कर्म' इति कर्मत्वम् । अधिशय्य शयित्वा । 'अयङ्यि क्ङिति' इत्ययङादेशः । अशिवैरमङ्गलैः शिवारुतैः क्रोष्टुवासितैः । 'शिवा हरीतकी क्रोष्ट्री शमी नद्यामलक्युभे' इति वैजयन्ती । निद्रां जहासि । अद्येति शेषः ॥ ३८ ॥

(ऐ नरेन्द्र !) पहले आप बहुमूल्य शय्या पर विश्राम करते थे और वैतालिकों के द्वारा स्तुति और गायन रूप माङ्गलिक पाठ से निद्रा त्याग करते थे। वही (आप) कुशबहुल भूमि पर शयन करते हैं और अमङ्गल-सूचक शृगालियों के शब्द से उद्बोधित होते हैं ॥ ३८ ॥

पुरोपनीतं नृप ! रामणीयकं द्विजातिशेषेण यदेतदन्धसा ।
तदद्य ते वन्यफलाशिनः परं परैति कार्श्यं यशसा समं वपुः ॥ ३९ ॥

पुरेति । हे नृप ! यदेतत्पुरोवर्त्ति वपुः पुरा द्विजातिशेषेण द्विजभुक्तावशिष्टेनान्धसाऽन्नेन । 'भिस्सा स्त्री भक्तमन्धोऽन्नम्' इत्यमरः । रमणीयस्य भावो रामणीयकं मनोहरत्वमुपनीतं प्रापितम् । नयतेर्द्विकर्मकत्वात्प्रधाने कर्मणि क्तः । 'प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम्' इति वचनात् । अद्य वन्यफलाशिनस्ते तव तद्वपुर्यशसा समं परमतिमात्रं कार्श्यं परैति प्राप्नोति । उभयमपि क्षीयत इत्यर्थः । अत्र सहोक्तिरलङ्कारः । तदुक्तं काव्यप्रकाशे—'सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम्' इति ॥ ३९ ॥

ऐ राजन् ! पहले आप का यह शरीर ब्राह्मणभुक्तावशिष्ट अन्न से परिवर्धित होकर रमणीय था, वही (शरीर) आज जङ्गली फलों के आहार से अत्यन्त दुर्बल होता जा रहा है और साथ-साथ यश को भी क्षीण बना रहा है। यहाँ एक लोकोक्ति है 'बाण गये चार हाथ पगहा भी लेते गये' ॥ ३९ ॥

अनारतं यौ मणिपीठशायिनावरञ्जयद्राजशिरःस्रजां रजः ।
निषीदतस्तौ चरणौ वनेषु ते मृगद्विजालूनशिखेषु बर्हिषाम् ॥ ४० ॥

अनारतमिति । अनारतमजस्रं मणिपीठशायिनौ मणिमयपादपीठशायिनौ यौ

चरणौ राजशिरःस्रजां नमन्नृपालमौलिस्रजां रजः परागोऽरञ्जयत्, तौ ते चरणौ मृगैर्द्विजैश्च तपस्विभिरालूनशिखेषु छिन्नाग्रेषु बर्हिषां कुशानाम् । 'बर्हिः कुशहुताशयोः' इति विश्वः । वनेषु निषीदतस्तिष्ठतः ॥ ४० ॥

जो (महाराज के) युगल चरण रत्न-जटित सिंहासन पर विश्रान्ति प्राप्त करते थे और अभिवादन के लिये झुकने वाले राजाओं की मौलिमालाओं के पुष्परज से रञ्जित होते थे आज दिन वही चरण हरिणों और ब्राह्मणों के द्वारा छिन्न कुशों पर विश्राम पाते हैं । यह कष्ट की बात नहीं है क्या ? ॥ ४० ॥

ननु सर्वप्राणिसाधारण्यामापदि का परिदेवनेत्यत्राह—

द्विषन्निमित्ता यदियं दशा ततः समूलमुन्मूलयतीव मे मनः ।
परैरपर्यासितवीर्यसम्पदां पराभवोऽप्युत्सव एव मानिनाम् ॥ ४१ ॥

द्विषदिति । यद्यतः कारणादियं दशाऽवस्था । 'दशा वर्त्तावस्थायाम्' इति विश्वः । द्विषन्तो निमित्तं यस्याः सा । 'द्विषोऽमित्रे' इति शतृप्रत्ययः । अतो मे मनः समूलं साशयमुन्मूलयतीवोत्पाटयतीव । दैविकी त्वापन्न दुःखायेत्याह—परैरिति । परैः शत्रुभिरपर्यासिताऽपर्यावर्त्तिता वीर्यसंपद्येषां तेषां मानिनां मानहानिर्दुःसहा, न त्वापदिति भावः ॥ ४१ ॥

आप की यह वर्तमान दशा शत्रु के कारण हुई है इसी लिये मेरे अन्तःकरण में बेकली की प्रतीति होती है । ऐसे मानियों का, जिसके बल और पराक्रम को शत्रु तिरस्कृत नहीं कर सकता, पराभव भी उत्साहवर्धक ही होता है अर्थात् पराभव सह्य है और मानहानि नहीं ॥ ४१ ॥

विहाय शान्तिं नृप ! धाम तत्पुनः प्रसीद संधेहि वधाय विद्विषाम् ।
व्रजन्ति शत्रूनवधूय निःस्पृहाः शमेन सिद्धिं मुनयो न भूभृतः ॥४२॥

विहायेति । हे नृप ! शान्तिं विहाय तत्प्रसिद्धं धाम तेजो विद्विषां वधाय पुनः सन्धेह्यङ्गीकुरु प्रसीद । प्रार्थनायां लोट् । ननु शमेन कार्यसिद्धौ किं क्रोधेनेत्यत्राह—व्रजन्तीति । निःस्पृहा मुनयः शत्रूनवधूय निर्जित्य शमेन क्रोधवर्जनेन सिद्धिं व्रजन्ति । भूभृतस्तु न । कैवल्यकार्यवद्राजकार्यं न शान्तिसाध्यमित्यर्थः ॥ ४२ ॥

महाराज ! क्षमा को दूर भगाइये, रिपुओं का दमन करने के लिये फिर उस प्रचण्ड प्रताप का आश्रय लीजिये, और प्रसन्नता को स्थान दीजिये । कामना-रहित महर्षि लोग काम-क्रोधादि शत्रुओं का दमन करने से ही सिद्धि प्राप्त करते हैं, किन्तु राजा नहीं ॥४२॥

पुरःसरा धामवतां यशोधनाः सुदुःसहं प्राप्य निकारमीदृशम् ।
भवादृशाश्चेदधिकुर्वते रतिं निराश्रया हन्त ! हता मनस्विता ॥ ४३ ॥

पुर इति। किं च धामवतां तेजस्विनाम्। परनिकारासहिष्णूनामित्यर्थः। पुरः सरन्तीति पुरःसरा अग्रेसराः। 'पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्तेः' इति टप्रत्ययः। यशोधना भवादृशाः सुदुःसहमतिदुःसहमीदृशमुक्तप्रकारं निकारं पराभवं प्राप्य रतिं सन्तोषमधिकुर्वते चेत्तर्हि हन्त इति खेदे। मनस्विताऽभिमानिता निराश्रया सती हता। तेजस्विजनैकशरणत्वान्मनस्वितताया इत्यर्थः। अतः पराक्रमितव्यमिति भावः। यद्यप्यत्र प्रसहनस्यासङ्गतेरधिपूर्वात्करोतेः 'अधेः प्रसहने' इत्यात्मनेपदं न भवति 'प्रसहनं परिभवः' इति काशिका, तथाऽप्यस्याः कर्त्रभिप्रायविवक्षायामेव प्रयोजकत्वात्कर्त्रभिप्राये 'स्वरितञितः–' इत्यात्मनेपदं प्रसिद्धम्॥ ४३॥

आप–जैसे कीर्तिसर्वस्व तेजस्वियों के अधिनायक, यदि इस प्रकार के असह्य पराभव को प्राप्त होकर सन्तोष कर जाते हैं तो मनस्विता निरालम्ब हो कर इस दुनिया से चल बसेगी॥ ४३॥

अथ क्षमामेव निरस्तविक्रमश्चिराय पर्येषि सुखस्य साधनम्।
विहाय लक्ष्मीपतिलक्ष्म कार्मुकं जटाधरः सञ्जुहुधीह पावकम्॥ ४४॥

अथेति। अथ पक्षान्तरे निरस्तविक्रमः सन्। चिराय चिरकालेनापि क्षमां क्षान्तिमेव। 'क्षितिक्षान्त्योः क्षमा' इत्यमरः। सुखस्य साधनं पर्येष्यवगच्छसि तर्हि लक्ष्मीपतिलक्ष्म राजचिह्न कार्मुकं विहाय। धरतीति धरः। पचाद्यच्। जटानां धरो जटाधरः सन्निह वने पावकं जुहुधि। पावके होमं कुर्वित्यर्थः। अधिकरणे कर्मत्वोपचारः। विरक्तस्य किं धनुषेत्यर्थः। 'हुझल्भ्यो हेर्धिः'॥ ४४॥

यदि शौर्य्य का परित्याग कर एक क्षमा को चिरकाल सुख का सामग्री मानना अभीष्ट हो तो राजाओं के चिह्न स्वरूप धन्वा को फेंक दीजिये और जटा बढ़ाकर इसी जगह (द्वैतवन में) अग्नि देव में आहुति प्रक्षेप कीजिए॥ ४४॥

अथ समयोल्लङ्घनाद् बिभेषि तदपि न किञ्चिदित्याह—

न समयपरिरक्षणं क्षमं ते निकृतिपरेषु परेषु भूरिधाम्नः।
अरिषु हि विजयार्थिनः क्षितीशा विदधति सोपधि सन्धिदूषणानि॥४५॥

नेति। परेषु शत्रुषु। निकृतिः परं प्रधानं येषु तेषु। तथोक्तेष्वपकारतत्परेषु सत्सु भूरिधाम्नो महौजसः प्रतीकारक्षमस्य ते तव समयस्त्रयोदशसंवत्सरान्वने वत्स्यामीत्येवंरूपा संवित्। 'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः। तस्य परिरक्षणं प्रतीक्षणं न क्षमं न युक्तम्। 'युक्ते क्षमं शक्ते हिते त्रिषु' इत्यमरः। हि यस्माद्विजयार्थिनो विजिगीषवः क्षितीशा अरिषु विषये सोपधि सकपटं यथा तथा। 'कपटोऽस्त्री व्याजदम्भोपधयश्छद्मकैतवे' इत्यमरः। सन्धिदूषणानि विदधति केनचिद् व्याजेन दोषमापाद्य संधिं दूषयन्ति। विघटयन्तीत्यर्थः। शक्तस्य हि विजिगीषोः सर्वथा

कार्यसाधनं प्रधानमन्यत्समयरक्षणादिकमशक्तस्येति भावः। अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥ ४५ ॥

आपका पराक्रम असीम है। उपद्रवी शत्रुओं के साथ समय की प्रतीक्षा करना युक्त नहीं। विजयाकांक्षी भूमिपाल किसी न किसी बहाने शत्रु के साथ किये हुये सन्धि-नियमों को भङ्ग कर डालते हैं ॥ ४५ ॥

उक्तमर्थमाशीर्वादपूर्वकमुपसंहरति—

विधिसमयनियोगाद्दीप्तिसंहारजिह्मं शिथिलवसुमगाधे मग्नमापत्पयोधौ।
रिपुतिमिरमुदस्योदीयमानं दिनादौ दिनकृतमिव लक्ष्मीस्त्वां समभ्येतु भूयः॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

विधीति। विधिर्दैवम्। 'विधिर्विधाने दैवे च' इत्यमरः। समयः कालस्तयोर्नियोगान्नियमनाद्धेतोः। तयोर्दुरतिक्रमत्वादिति भावः। अगाधे दुस्तरे। आपत्पयोधिरिवेत्युपमितसमासः। दिनकृतमिवेति वक्ष्यमाणानुसारात्तस्मिन्नापत्पयोधौ मग्नम्। 'सूर्योऽपि सायं सागरे मज्जति परेद्युरुन्मज्जती'त्यागमः। दीप्तिः प्रताप आतपश्च तस्याः संहारेण जिह्ममप्रसन्नम्। शिथिलवसुं शिथिलधनम्, अन्यत्र शिथिलरश्मिम्। 'वसुर्देवेऽग्नौ रश्मौ च वसु तोये धने मणौ' इति वैजयन्ती। 'शिथिलबलम्' इति पाठे तूभयत्रापि शिथिलशक्तिकमित्यर्थः। रिपुस्तिमिरमिवेति रिपुतिमिरमुदस्य निरस्योदीयमानमुद्यन्तम्। 'इङ् गतौ' इति धातोदवादिकात्कर्त्तरि शानच्। त्वां दिनादौ दिनकृतमिव लक्ष्मीर्भूयः समभ्येतु भजतु। 'आशिषि लिङ्लोटौ' इति लोट्। चमत्कारितया मङ्गलाचरणरूपतया च सर्गान्त्यश्लोकेषु लक्ष्मीशब्दप्रयोगः। यथाऽऽह भगवान्भाष्यकारः—'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषकाण्यायुष्मत्पुरुषकाणि च भवन्त्यध्येतारश्च प्रवक्तारो भवन्ति' इति। पूर्णोपमेयम्। मालिनी वृत्तम्, सर्गान्तत्वाद् वृत्तभेदः। यथाऽऽह दण्डी—'सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्राव्यवृत्तैः सुसंधिभिः। सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरञ्जकम्' ॥ इति ॥४६॥

अथ कविः काव्यवर्णनीयाख्यानपूर्वकं सर्गपरिसमाप्तिं कथयति—इतीत्यादि। इतिशब्दः परिसमाप्तौ। भारविकृताविति कविनामकथनम्। महाकाव्य इति महच्छब्देन लक्षणसम्पत्तिः सूचिता। किरातार्जुनीय इति काव्यवर्णनीययोः कथनम्। प्रथमः सर्गः। समाप्त इति शेषः। एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम्। किरातार्जुनावधिकृत्य कृतो ग्रन्थः किरातार्जुनीयम् 'शिशुक्रन्दयमसभद्वन्द्वेन्द्रजननादिभ्यश्छः' इति द्वन्द्वाच्छप्रत्ययः। राघवपाण्डवीयमितिवत्। अत्र ह्यर्जुन एवात्र नायकः। किरातस्तु तदुत्कर्षाय प्रतिभटतया वर्णितः। यथाऽऽह दण्डी–'वंशवीर्यप्रतापादि वर्णयित्वा रिपोरपि।

तज्जयाम्नायकोत्कर्षकथनं च धिनोति नः' ॥ इति । अथायं संग्रह—'नेता मध्यमपाण्डवो भगवतो नारायणस्यांशजस्तस्योत्कर्षकृते त्ववर्ण्यततरां दिव्यः किरातः पुनः। शृङ्गारादिरसोऽङ्गमत्र विजयी वीरः प्रधानो रसः शैलाद्यानि च वर्णितानि बहुशो-दिव्यास्त्रलाभः फलम् ॥ इति ।

इति श्रीमहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीयकाव्य-व्याख्याया घण्टापथसमाख्यायां प्रथमः सर्गः समाप्तः ॥ १ ॥

सूर्य भगवान् जिस प्रकार भाग्य और समय के हेर-फेर से आतप के विनष्ट होने से निष्प्रभ तथा क्षीणरश्मि होकर सायङ्काल को विपत्ति के सदृश (अपार) समुद्र में अस्त हो जाते हैं और पुनः दिन के आदिम भाग में शत्रुरूप अन्धकार को विनष्ट कर उदय होते हैं। उनकी दिनश्री पूर्ववत् उनका आलिङ्गन करने लग जाती है उसी प्रकार इस समय आप भी भाग्य और समय के कुचक्र में पड़कर प्रताप के नष्ट होने से अप्रसन्न हो गये हैं। आप अकिञ्चन (निर्धन) हो गये हैं। इदानीं आप विपत्ति के सागर में गोते खा रहे हैं। अन्धकार के सदृश शत्रुओं का नाश कर अपने भाग्योदय के प्रथम भाग में वर्तमान आपका राज्य श्री पुनः स्वागत करेगी ॥ ४६ ॥

इस प्रकार 'प्रकाश' व्याख्या में प्रथम सर्ग समाप्त हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयः सर्गः

विहितां प्रियया मनःप्रियामथ निश्चित्य गिरं गरीयसीम् ।
उपपत्तिमदूर्जिताश्रयं नृपमूचे वचनं वृकोदरः ॥ १ ॥

विहितामिति । अथ वृकोदरो भीमः प्रियया द्रौपद्या। प्रियाग्रहणमस्या हितोपदेशतात्पर्यसूचनार्थम् । विहिताम् , अभिहितामित्यर्थः। विपूर्वस्य दधातेः क्रियासामान्यवाचिनो योग्यविशेषपर्यवसानात्। मनःप्रियामभिमतार्थयोगान्मनोहरां, विशेषणद्वयेनापि गिरो ग्राह्यत्वमुक्तं, गिरं गरीयसीं सारवत्तरां निश्चित्य नृपं धर्मराजमुपपत्तिमद् युक्तियुक्तमूर्जिताश्रयमुदारार्थं वचनमूचे उक्तवान् । कर्त्तरि लिट्। ब्रुवो वचिरादेशः । 'ब्रुविशासि—'इत्यादिना द्विकर्मकत्वम्। 'अकथितं च' इति नृपस्य कर्मत्वम्॥

तदनन्तर भीम ने प्रियतमा द्रौपदी के द्वारा उक्त वचन का हितोपदेशक तथा सारगर्भित मानकर युधिष्ठिर के समक्ष युक्तियुक्त तथा उदाराभिप्राय-पूर्ण वचनों में समर्थन करते हुए कहा ॥ १ ॥

किं तद्वचनं तदाह—

यदवोचत वीक्ष्य मानिनी परितः स्नेहमयेन चक्षुषा ।
अपि वागधिपस्य दुर्वचं वचनं तद्विदधीत विस्मयम् ॥ २ ॥

यदिति । मानिनी क्षत्रियकुलाभिमानवती द्रौपदी स्नेहमयेन स्नेहप्रचुरेण। 'तत्प्रकृतवचने मयट्' । चक्षुषा ज्ञानचक्षुषा । एतेनाप्तत्वमुक्तम् । परितो वीक्ष्य समन्ततो विविच्य यद्वचनमवोचत । ब्रुवो वक्तेर्वा लुङ् । 'वच उम्' इत्युमागमः। वागधिपस्य बृहस्पतेरपि दुर्वचं वक्तुमशक्यम् । शेषे षष्ठीयं, न कृद्योगलक्षणा । अतो 'न लोक—'इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधो नास्ति । तद्वचनं विस्मयं विदधीत । सर्वस्यापीति शेषः । अथवा वागधिपस्यापि विस्मयं विदधीतेति सम्बन्धः । दुर्वचम् । केनापीति शेषः । यतः स्त्रैणमपि शास्त्रमनुरुणद्धि हितं चानुबध्नाति । अतो विस्मयकरं ग्राह्यं चैतद्वचनमिति तात्पर्यार्थः ॥ २ ॥

कुल मर्य्यादा की पालिका श्रीमती (द्रौपदी) जो ज्ञानदृष्टि से प्रत्येक बातों पर ध्यान रख कर जो कुछ कही हैं बृहस्पति भी उसे नहीं कह सकते, उनके वचन सबको आश्चर्य में डाल देते हैं अथवा जैसी बात श्रीमती ने कही है वैसी बात कोई भी कहने में समर्थ नहीं हो सकता, यहाँ तक कि देवगुरु भी आश्चर्यचकित हो जाते हैं ॥ २ ॥

विस्मयकरत्वे हेतुमाह—

विषमोऽपि विगाह्यते नयः कृततीर्थः पयसामिवाशयः ।
स तु तत्र विशेषदुर्लभः सदुपन्यस्यति कृत्यवर्त्म यः ॥ ३ ॥

विषम इति । विषमोऽपि दुर्बोधोऽपि । अन्यत्र दुष्प्रवेशोऽपि । नयो नीतिशास्त्रं पयसामाशयो ह्रद इव । कृततीर्थः कृताभ्यासाद्युपायः सन् । 'तीर्थं शास्त्राध्वरक्षेत्रोपायोपाध्यायमन्त्रिषु' इति विश्वः । अन्यत्र कृतजलावतारः सन् । 'तीर्थं योनौ जलावतारे च' इति हलायुधः । विगाह्यते गृह्यते प्रविश्यते च । किंतु तत्र नये जलाशये च स तादृशः पुरुषो विशेषदुर्लभोऽत्यन्तदुर्लभो यः कृत्यं संधिविग्रहादि कार्यं स्नानादिकं च तस्य वर्त्म सत् साधु देशकालाद्यविरुद्धं यथा तथा । अन्यत्र गर्तग्राहपाषाणादिरहितम् । यथा तथोपन्यस्यत्युदाहरति । 'उपन्यासस्तु वाङ्मुखम् । उपोद्घात उदाहारः' इत्यमरः । यथा केनचित्कृततीर्थे पयसि गम्भीरेऽपि प्रवेष्टारः सन्ति । तीर्थकरस्तु विरलः । तद्वन्नीतावपि गूढमपि तत्त्वं वक्तरि सति बोद्धारः सन्ति, वक्ता तु न सुलभः । अत इयमपठिताऽपि साधु वक्तीति युज्यते विस्मय इत्यर्थः ॥३॥

नीति शास्त्र बड़ा गहन है । जिस तरह दुर्गम जलाशय में तैरने का अभ्यास कर लेने पर अथवा सीढ़ियों के बन जाने के बाद प्रवेश करना सुगम होता है, परन्तु उस गम्भीर जलाशय में खड्ड, पत्थर और ग्राहादिकों का निदर्शनकारी तथा सोपान-निर्माण-दक्ष पुरुष

बहुत कम दिखलाई पड़ता है; उसी तरह इस में (नीति शास्त्र में) गुरुओं से शास्त्रों का अध्ययन करके भली भाँति प्रवेश हो सकता है, परन्तु ऐसा पुरुष—जो सन्धि, विग्रह, यान द्वैधीभावादि कार्य का पथप्रदर्शक हो—विरल होता है। तात्पर्य्य यह कि शास्त्रादि का अध्ययन और अभ्यास करके नीति शास्त्र का रहस्य सरलतापूर्वक उद्घाटन किया जा सकता है, परन्तु महारानी ने जो यह विषय आप के समक्ष उपस्थित किया है, बिल्कुल आश्चर्यकर है॥

अथ ग्राह्यत्वे हेतुमाह—

परिणामसुखे गरीयसि व्यथकेऽस्मिन्वचसि क्षतौजसाम् ।
अतिवीर्यवतीव भेषजे बहुरल्पीयसि दृश्यते गुणः ॥ ४ ॥

परिणामेति । परिणामः फलकालः परिपाकावस्था च । तत्र सुखे हिते । 'शस्तं चाथ त्रिषु द्रव्ये पापं पुण्यं सुखादि च' इति सुखशब्दस्य विशेष्यलिङ्गत्वम् । गरीयसि भूयिष्ठे श्रेष्ठे च । क्षतौजसामुभयत्रापि क्षीणशक्तीनां व्यथके युद्धोपोद्बलकत्वाद्भयङ्करे। अन्यत्रादौ संशयादिदुःखजनके । अल्पीयस्यल्पाक्षरेऽल्पमात्रे च । उक्तं च—'स्वल्पा च मात्रा बहुलो गुणश्च' इति । अस्मिन्वचसि द्रौपदीवाक्ये । अतिवीर्यवत्यत्यन्तसामर्थ्यवति भेषज औषध इव । 'भेषजौषधभैषज्यम्' इत्यमरः। बहुरनेको गुणो मानत्राणराज्यलाभादिरारोग्यबलपोषादिश्च दृश्यते । अतो ग्राह्यमस्या वचनमिति भावः॥४॥

परिणाम में लाभप्रद, श्रेष्ठ, क्षीणबल रोगियों को पाचन शक्ति की न्यूनता के कारण कष्टप्रद और उत्तम रासायनिक अल्प मात्रा की औषधि में जिस प्रकार आरोग्य, बल, पोषणादिक अनेक प्रकार के गुण दिखलाई पड़ते हैं; उसी तरह श्रीमती के द्वारा कही गई वाणी में जो परिणाम में हितकर, सारगर्भित, क्षीण—शक्ति व्यक्तियों के लिये सन्तापकारिणी, अत्यन्त ओजस्विनी और अल्पाक्षरा है, उसमें मर्य्यादा की रक्षा, राज्य-लाभादि अनेक प्रकार के गुण पाये जाते हैं ॥ ४ ॥

सत्यमेवं तथाऽपि मह्यं न रोचते किं करोमीत्यत्राह—

इयमिष्टगुणाय रोचतां रुचिरार्था भवतेऽपि भारती ।
ननु वक्तृविशेषनिःस्पृहा गुणगृह्या वचने विपश्चितः ॥ ५ ॥

इयमिति । रुचिरार्था महितार्थसम्पन्नेति रुचिहेतूक्तिः । इयं भारती द्रौपदीवाक्यमिष्टगुणाय, गुणग्राहिण इत्यर्थः । भवते तुभ्यमपि । 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः'-इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । रोचतां स्वदताम् । विध्यर्थे लोट् । हितवचने बलादपीच्छां कुर्यादौषधवदिति भावः । तथाऽपि स्त्रैणे वचसि का श्रद्धा तत्राह—नन्विति । गुणानां गृह्या गुणगृह्याः, गुणपक्षपातिन इत्यर्थः । 'पदास्वैरिबाह्यापक्ष्येषु च' इति ग्रहेः क्यप् । विपश्चितो विद्वांसः । 'विद्वान्विपश्चिद्दोषज्ञः' इत्यमरः । वचने विषये वक्तृविशेषे

स्त्रीपुंसादिलक्षणे निःस्पृहा ननु निरास्थाः खलु । 'बालादपि सुभाषितं ग्राह्यम्' इति न्यायादिति भावः ॥ ५ ॥

ये श्रीमती (द्रौपदी) के कहे हुये सुन्दर अभिप्राय-पूर्ण वाक्य आप को अच्छे लगने चाहिये, आप गुणग्राही हैं । यदि आप कहें कि स्त्री की बात नहीं सुननी चाहिये तो इसकी बात जाने दीजिये । विद्वान् लोग केवल वाक्य के गुणों को ग्रहण कर लेते हैं और यह ध्यान में भी नहीं लाते कि वक्ता स्त्री है या पुरुष ॥ ५ ॥

सम्प्रति स्वयमुपालभते—

चतसृष्वपि ते विवेकिनी नृप ! विद्यासु निरूढिमागता ।
कथमेत्य मतिर्विपर्ययं करिणी पङ्कमिवावसीदति ॥ ६ ॥

चतसृष्विति । हे नृप ! चतसृष्वपि विद्यास्वान्वीक्षिक्यादिषु । 'आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिश्च शाश्वती । विद्याश्चैताश्चतस्रस्तु लोकसंस्थितिहेतवः' इति कामन्दकः । निरूढिमागता प्रसिद्धिं गता । अत एव विवेकिनी सदसद्विवेकवती । यथाऽऽह मनुः—'आन्वीक्षिक्यां तु विज्ञानं धर्माधर्मौ त्रयीस्थितौ । अर्थानर्थौ तु वार्त्तायां दण्डनीत्यां नयानयौ ॥' इति ॥ ते मतिः कथं करिणी पङ्कमिव विपर्ययं वैपरीत्यमविवेकरूपमेत्यावसीदति नश्यति, तच्च युक्तमिति भावः ॥ ६ ॥

लोक की संस्थापना के लिये आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति ये चार तरह की विद्यायें हैं उन में आप की बुद्धि सत् और असत् की विवेचना करती हुई ख्याति प्राप्त कर ली है । फिर क्या कारण है कि वही बुद्धि विचारविपर्य्यय को प्राप्त हो कर दलदल में फँसी हुई हथिनी की भाँति कराह रही है ॥ ६ ॥

किं नश्छिन्नमिदानीं येनेत्थमुपालम्भ्येमहीत्यत्राह—

विधुरं किमतः परं परैरवगीतां गमिते दशामिमाम् ।
अवसीदति यत्सुरैरपि त्वयि सम्भावितवृत्ति पौरुषम् ॥ ७ ॥

विधुरमिति । त्वयि परैः शत्रुभिरिमामीदृशीमवगीतां गर्हिताम् । 'अवगीतं तु निर्वादे मुहुर्दृष्टे च गर्हिते' इति विश्वः । दशां गमिते प्रापिते सति । सुरैरपि संभावितवृत्ति बहुकृतप्रसारम् । अथवा निश्चितसद्भावम् । पौरुषं पुरुषकारः । युवादित्वादण्प्रत्ययः । अवसीदति नश्यतीति यत् । अतः परम् अतोऽन्यदधिकं किं विधुरं किं कष्टम् । न किञ्चिदित्यर्थः । 'विधुरं प्रत्यवाये स्यात्कष्टविश्लेषयोरपि' इति वैजयन्ती । अस्तीति शेषः । 'अस्तिर्भवन्तीपरः प्रथमपुरुषोऽप्रयुज्यमानोऽप्यस्ति' इति भाष्यकारः । भवन्तीति लटः पूर्वाचर्याणां संज्ञा । यद्वा—पुरुषाधिकारस्य दुर्दशा सा च शत्रुकृता । तदुपरि महत्कष्टं तच्च त्वदुपेक्षयेत्युपालम्भः स इत्यर्थः ॥ ७ ॥

शत्रुओं के द्वारा आप के इस अवस्था को प्राप्त होने पर (आपका) पुरुषार्थ, जिसकी प्रशंसा देवता लोग मुक्तकण्ठ से करते हैं, विफल हो रहा है; इससे बढ़कर कष्ट और क्या हो सकता है ? ॥ ७ ॥

अथोपेक्षाकालत्वादियमुपेक्षेत्याशङ्क्य नायमुपेक्षाकाल इति वक्तुं तदेव तावच्छ्लोकद्वयेन विविनक्ति—

द्विषतामुदयः सुमेधसा गुरुरस्वन्ततरः सुमर्षणः।
न महानपि भूतिमिच्छता फलसम्पत्प्रवणः परिक्षयः॥ ८॥

द्विषतामिति। भूतिमुदयमिच्छता। शोभना मेधा यस्य तेन सुमेधसा सुधिया। 'नित्यमसिच्प्रजामेधयोः' इत्यसिच्प्रत्ययः। गुरुर्महानप्यस्वन्ततरोऽत्यन्तदुरन्तः। क्षयोन्मुख इत्यर्थः। द्विषतामुदयो वृद्धिः। सुखेन मृष्यत इति सुमर्षणः सुसहः। उपेक्ष्य इत्यर्थः। स्वन्तश्चेत् दुर्मर्षण इति भावः। 'भाषायां शासि—'इत्यादिना खलर्थे युच्प्रत्ययः। महानपि फलसम्पत्प्रवणः फलसम्पदुन्मुखः। 'प्रनिरन्तर—' इत्यादिना णत्वम्। परिक्षयो न सुमर्षणः, नोपेक्ष्य इत्यर्थः। अन्यथा तूपेक्ष्य इति भावः। न ह्युदय एव प्रतीकार्यो न च क्षय इत्येवोपेक्ष्यः। किन्तु स्वन्तत्वास्वन्तत्वाभ्यामुभावपि प्रतीकार्यावुपेक्ष्यौ च भवत इत्यर्थः॥ ८॥

ऐश्वर्य्य की कामना वाले मेधावी (बुद्धिमान्) पुरुष शत्रु के महान् अभ्युदय की जो क्रमशः अवनति को प्राप्त होने वाला है, उपेक्षा कर देते हैं; किन्तु यदि वह (शत्रु) महान् अभ्युदय की तरफ अग्रसर होता है और वर्तमान परिस्थिति में भले ही अवनति में पड़ा हो तो कदापि उपेक्ष्य नहीं॥ ८॥

अथोभयोरपि मध्य एकतरस्योदयक्षययोर्गतिमुक्त्वेदानीं युगपत्परिक्षयागमे गतिमाह—

अचिरेण परस्य भूयसीं विपरीतां विगणय्य चात्मनः।
क्षययुक्तिमुपेक्षते कृती कुरुते तत्प्रतिकारमन्यथा॥ ९॥

अचिरेणेति। कृतमनेनेति कृती। कुशल इत्यर्थः। 'इष्टादिभ्यश्च' इतीनिप्रत्ययः परस्य शत्रोः क्षययुक्तिं क्षययोगमचिरेणाशुभाविनीं भूयसीं दुरन्तां च, तथाऽऽत्मनः क्षययुक्तिं विपरीतां चिरभाविनीमल्पीयसीं च विगणय्य विचार्य। 'ल्यपि लघुपूर्वात्' इत्ययादेशः। उपेक्षते। अन्यथोक्तवैपरीत्ये। परस्य क्षययुक्तावल्पीयस्यां, स्वस्य भूयस्यां च सत्यामित्यर्थः। तत्प्रतिकारं तस्याः क्षययुक्तेः प्रतिकारमचिरेणाशु कुरुते। एवं सति यदा शत्रोरभ्युदयः स्वस्य चातिपरिक्षयो यथाऽस्माकं, तदा किं वक्तव्यम्। सद्यः प्रतिकुरुत इत्यर्थात्सिद्धमनुसन्धेयम्॥ ९॥

चतुर व्यक्ति, शत्रु की विपत्ति प्रचुर परिणाम में आशुभाविनी और अपनी चिरकाल में

अल्प आनेवाली समझ उपेक्षा कर देते हैं, इसके विपरीत अर्थात् शत्रु का अधिक समय में कम और अपनी अल्पकाल में अधिक होने वाली विपत्ति को समझ कर उसकी उपेक्षा नहीं करते, किन्तु प्रतिकार करने के लिये तय्यार हो जाते हैं ॥ ९ ॥

तथाऽप्युपेक्षायामनिष्टमाचष्टे—

अनुपालयतामुदेष्यतीं प्रभुशक्तिं द्विषतामनीहया ।
अपयान्त्यचिरान्महीभुजां जननिर्वादभयादिव श्रियः ॥ १० ॥

अनुपालयतामिति । उदेष्यतीं वर्द्धिष्यमाणाम् । 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति विकल्पानुमभावः । द्विषतां प्रभुशक्तिं कोशदण्डजं तेजः । 'स प्रभावः प्रतापश्च यत्तेजः कोशदण्डजम्' इत्यमरः । अनीहयाऽनुत्साहेनानुपालयतामुपेक्षमाणानां महीभुजां श्रियः सम्पदो जननिर्वादभयाद्विकृष्टपुरुषानुरागोत्थलोकापवादभयादिवेति हेतूत्प्रेक्षा । अचिरादपयान्त्यपसरन्ति । यथाऽऽह कामन्दकः—'स्त्रीभिः षण्ढ इव श्रीभिरलसः परिभूयते' इति । अतः पराक्रमितव्यमित्यर्थः ॥ १० ॥

जो राजन्यवर्ग अनुत्साहपूर्वक, शत्रुओं की क्रमशः वर्धिष्णु, राजकीय शक्तियों की उपेक्षा करते हैं, ऐसे राजाओं की राज्यश्री शीघ्र ही उन से अलग हो जाती है, मानो उसने लोकापवाद के भय से ऐसा किया है ॥ १० ॥

ननु परिक्षीणः कथं प्रलयेनाभियुज्यत इत्यत्राह—

क्षययुक्तमपि स्वभावजं दधतं धाम शिवं समृद्धये ।
प्रणमन्त्यनपायमुत्थितं प्रतिपच्चन्द्रमिव प्रजा नृपम् ॥ ११ ॥

क्षयेति । क्षययुक्तमपि तथा क्षीणमपि सन्तं स्वभावजं सहजं शिवं सर्वलोकाह्लादकं धाम क्षात्रं तेजः प्रकाशं च दधतं समृद्धये वृद्ध्यर्थमुत्थितमुद्युक्तम् । वर्द्धिष्णुमित्यर्थः । नृपं । प्रजाः । प्रतिपच्चन्द्रं द्वितीयाचन्द्रमिवेत्यर्थः । प्रतिपच्छब्देन द्वितीयाग्रहणम्, प्रतिपदि तस्यादर्शनत्वादिति । प्रणमन्ति । प्रह्वीभावेन वर्त्तन्त इति भावः । चन्द्रं तु नमस्कुर्वन्ति । क्षीणस्याप्युत्साहः कार्यसिद्धेर्निदानमित्यर्थः । 'जयं हि सततोत्साही दुर्बलोऽपि समश्नुते' इति कामन्दकः ॥ ११ ॥

जिस तरह लोग निसर्गज नेत्रानन्दकर तेजके धारी, उत्तरोत्तर वर्धिष्यमाण द्वितीया के चन्द्रमा को क्षीण होने पर भी नमस्कार करते हैं (पूर्णिमा के चन्द्र को पूर्ण होने पर भी वैसे नमस्कार नहीं करते), उसी तरह स्वभावतः प्रजा के कल्याणकारक तेज के धारी क्षीणबल, उत्तरोत्तर शक्तिसञ्चयकारी उत्साही राजा का अभिवादन करते हैं । तात्पर्य्य यह कि यदि दुर्बल हो पर उत्साही हो तो जनता उसका स्वागत करती है और वह विजयी होता है ॥ ११ ॥

ननु प्रभुशक्तिशून्यस्योत्साहः कुत्रोपयुज्यत इत्यत्राह—

प्रभवः खलु कोशदण्डयोः कृतपञ्चाङ्गविनिर्णयो नयः।
स विधेयपदेषु दक्षतां नियतिं लोक इवानुरुध्यते॥ १२॥

प्रभव इति। कर्मणामारम्भोपायः, पुरुषद्रव्यसम्पद्, देशकालविभागो, विनिपातप्रतीकारः, कार्यसिद्धिश्चेति पञ्चाङ्गानि। यथाऽऽह कामन्दकः—सहायाः साधनोपाया विभागो देशकालयोः। विनिपातप्रतीकारः सिद्धिः पञ्चाङ्गमिष्यते'॥ इति। पञ्चानामङ्गानां विनिर्णयः पञ्चाङ्गविनिर्णयः। 'तद्धितार्थ—'इत्यादिनोत्तरपदसमासः। कृतः पञ्चाङ्गविनिर्णयो यस्य येन वा स तथोक्तः। नयो नीतिः। मन्त्र इति यावत्। कोशोऽर्थराशिः। 'कोशोऽस्त्री कुड्मले खड्गपिधानेऽर्थौघदिव्ययोः' इत्यमरः। दण्डश्चतुरङ्गसैन्यम्। 'दण्डोऽस्त्री शासने राज्ञां हिंसायां लगुडे यमे। यात्राऽऽज्ञायां सैन्यभेदे' इति वैजयन्ती। तयोः कोशदण्डयोः। प्रभुशक्तेरित्यर्थः। प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः कारणम्। ऋदोरप्। स नयो विधेयपदेषु कार्यवस्तुषु। 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः। दक्षतां क्षिप्रकारित्वम्। उत्साहमित्यर्थः। लोकः कृष्यादिप्रवृत्तो जनः। नियतिं दैवमिव। 'नियतिर्नियमे दैवे' इति विश्वः। अनुरुध्यते अनुसरति। रुधेर्दैवादिकात्कर्तरि लट्। मन्त्रस्यापि मूलमुत्साहस्तन्मूलायाः प्रभुशक्तेर्मूलमिति किमु वक्तव्यम्। अतः स एवाश्रयणीयः। यतो नक्तंदिवं मन्त्रयतस्तस्यापि प्रभोर्निरुत्साहस्य न किञ्चित्सिद्ध्यतीति॥ १२॥

कार्य सिद्धि के पाँच अङ्ग हैं—(१) सहायक, (२) कार्य साधन के उपाय, (३) देश-विभाग, (४) काल विभाग और (५) विपत्तिप्रतिकार। सिद्धि के पांचों अङ्गों का निर्णय करने वाली, प्रभु शक्ति की उत्पादिका नीति कृषकों की दैवानुसरण की भाँति उत्साह की अपेक्षा करती है अर्थात् उत्साह के विना कोई सिद्धि नहीं हो सकती॥ १२॥

ननु सोत्साहस्यासहायस्य कथमर्थसिद्धिरित्यत्राह—

अभिमानवतो मनस्विनः प्रियमुच्चैः पदमारुरुक्षतः।
विनिपातनिवर्त्तनक्षमं मतमालम्बनमात्मपौरुषम्॥ १३॥

अभिमानवत इति। अभिमानवतो मानधनस्य प्रियमिष्टमुच्चैरुन्नतं पदं स्थानं राज्यादिकमारुरुक्षत आरोढुमिच्छतः प्राप्तुकामस्य मनस्विनो धीरस्यात्मपौरुषं स्वपुरुषकार एव विनिपातनिवर्त्तनक्षममनर्थप्रतीकारसमर्थमालम्बनं सहकारि मतमिष्टम्। यथा कस्य चित्तुङ्गमारोहतः किञ्चित्पतनप्रतिबन्धकमनुचरहस्तादिकमालम्बनं तद्वदिति ध्वनिः। किं पौरुषादन्यैः सहायैः शूराणामिति भावः॥ १३॥

उन्नत पद पर आरोहण करने के लिये इच्छुक, मानशाली धीर पुरुष, आपत्ति निवारण

करने में समर्थ अपने पुरुषार्थ का आश्रय लेना उचित मानते हैं। शूरवीरों का पुरुषार्थ ही सच्चा सहायक है॥ १३॥

पौरुषानङ्गीकारे दोषमाह—

विपदोऽभिभवन्त्यविक्रमं रहयत्यापदुपेतमायतिः।
नियता लघुता निरायतेरगरीयान्न पदं नृपश्रियः॥ १४॥

विपद इति। अविक्रमं पौरुषहीनं विपदोऽभिभवन्त्याक्रामन्ति। आपदुपेतं विपन्नमायतिरुत्तरकालः। 'उत्तरः काल आयतिः' इत्यमरः। रहयति त्यजति। निरायतेः आसन्नत्तयस्येत्यर्थः। लघुताऽगौरवं नियताऽवश्यम्भाविनी। न कश्चिदेनमाद्रियत इत्यर्थः। अगरीयांल्लघीयान्नृपश्रियो राजलक्ष्म्याः पदमास्पदं न भवति। यद्वा—नृपेति पदच्छेदः। तस्मात्पौरुषं कर्त्तव्यमेवेत्यर्थः। अत्र पूर्वपूर्वस्याविक्रमत्वादेरुत्तरोत्तरविपदादिकं प्रति कारणत्वात् कारणमालाऽऽख्योऽलङ्कारः। तथा च सूत्रम्—पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरहेतुत्वे कारणमाला॥ १४॥

पुरुषार्थ से हीन पुरुष को विपत्तियाँ आक्रान्त कर लेती हैं। विपत्तियों से आक्रान्त होने पर उसकी भाविनी उन्नति रुक जाती है। फिर उसका गौरव नष्ट हो जाता है। गौरव नष्ट होने पर राज्यश्री के लिये कोई स्थान नहीं रह जाता, जिसका वह आश्रय ले सके॥१४॥

फलितमाह—

तदलं प्रतिपक्षमुन्नतेरवलम्ब्य व्यवसायवन्ध्यताम्।
निवसन्ति पराक्रमाश्रया न विषादेन समं समृद्धयः॥ १५॥

तदिति। तत्तस्माद्, उपेक्षायां दोषसम्भवादित्यर्थः। उन्नतेरभ्युदयस्य प्रतिपक्षमन्तरायं व्यवसायवन्ध्यतामुद्योगशून्यतामवलम्ब्यालम्, अवलम्बनेनालमित्यर्थः। 'अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा' इति क्त्वाप्रत्ययः। तस्य ल्यबादेशः। तथा हि। पराक्रम आश्रयः कारणं यासां तास्तथोक्ताः समृद्धयः सम्पदो विषादेन सममनुत्साहेन सह न निवसन्ति। पौरुषसाध्याः सम्पदो नानुत्साहसाध्याः। उभयोः सहावस्थानविरोधादित्यर्थः। वैधर्म्येण कार्यकारणरूपोऽर्थान्तरन्यासः॥ १५॥

उन्नति के पथ में बाधक अनुत्साह का अवलम्बन करके पड़े रहना ठीक नहीं, क्योंकि समृद्धियाँ पराक्रमशाली (उत्साही) पुरुष का आश्रय लेती हैं और अनुत्साही का परित्याग कर देती हैं॥ १५॥

ननु समयः प्रतीक्ष्यते, किं वेगेनेत्यत्राह—

अथ चेदवधिः प्रतीक्ष्यते कथमाविष्कृतजिह्मवृत्तिना।
धृतराष्ट्रसुतेन सुत्यजाश्चिरमास्वाद्य नरेन्द्रसम्पदः॥ १६॥

अथेति । अथावधिः कालः प्रतीक्ष्यते चेद् । 'अवधिस्त्ववधाने स्यात्सीम्नि काले बिलेऽपि च' इति विश्वः । आविष्कृतजिह्मवृत्तिना प्रकटितकपटव्यवहारेण धृतराष्ट्रसुतेन दुर्योधनेन नरेन्द्रसम्पदो राज्यसम्पदः । नरेन्द्रेति वा पदच्छेदः । चिरं त्रयोदशवर्षाण्यास्वाद्यानुभूय कथं सुत्यजाः । ज्ञातास्वादेन तेन पश्चादपि सुखेन युद्धक्लेशं विना न त्यक्ष्यन्त एवेत्यवधिप्रतीक्षणं व्यर्थमित्यर्थः ॥ १६ ॥

यदि आप तेरह वर्ष की अवधि की प्रतीक्षा करते हैं तो (आप स्वय समझिए) धृतराष्ट्रपुत्र सुयोधन जो प्रत्यक्ष कपट का व्यवहार करता है वह अधिक काल पर्य्यन्त राज)-लक्ष्मी का उपभोग कर क्यों कर उससे पृथक् हो सकता है ॥ १६ ॥

अथवा तदा दैववशात्स्वयमेव सम्पदो दास्यति चेत्तथाऽपि तत्कथं रोचयेमहीत्याह—

द्विषतां विहितं त्वयाऽथवा यदि लब्धा पुनरात्मनः पदम् ।
जननाथ ! तवानुजन्मनां कृतमाविष्कृतपौरुषैर्भुजैः ॥ १७ ॥

द्विषतेति । अथवा द्विषता विहितं पुनः प्रत्यर्पितमात्मनः पदं राज्यं त्वया लब्धा लप्स्यतं यदि । लभेः कर्मणि लुट् । हे जननाथ ! तवानुजन्मनामनुजानामाविष्कृतपौरुषैः प्रकटितपराक्रमैर्भुजैः कृतमलम् । अस्मद्भुजैर्न किञ्चित्साध्यमित्यर्थः । राज्यदानादानयोर्द्विषतामेव स्वातन्त्र्येऽस्मद्भुजवैफल्यात् । 'क्षत्रियस्य विजेतव्यम्' इति शास्त्रात्शास्त्रेणैव राज्यं प्राप्यमिति भावः । कृतमिति प्रतिषेधार्थमव्ययं चादिषु पठ्यते । 'कृतमिति निवारणनिषेधयोः' इति गणव्याख्याने । भुजैरिति गम्यमानसाधनक्रियाऽपेक्षया करणत्वात्तृतीया । उक्तं च न्यासोद्द्योते—'न केवलं श्रूयमाणैव क्रिया निमित्तं कारकभावस्यापि तु गम्यमानाऽपि' इति ॥ १७ ॥

प्रजानाथ ! यदि शत्रु पुनः राज्य लौटा दें और वह आप के करतल में हो जाय तो आप के सोदर्यों की पराक्रमशाली भुजायें फिर कब और कहाँ सफल होंगी ॥ १७ ॥

ननु साम्नैव कार्यसिद्धौ किं शास्त्रेण । यथाऽऽह मनुः—'साम्ना दानेन भेदेन समस्तैरथवा पृथक् । विजेतुं प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन' ॥ इति । तत्किमाग्रहेणेत्याशङ्क्याह—

मदसिक्तमुखैर्मृगाधिपः करिभिर्वर्त्तयते स्वयं हतैः ।
लघयन्खलु तेजसा जगन्न महानिच्छति भूतिमन्यतः ॥ १८ ॥

मदेति । मृगाधिपः सिंहो मदसिक्तमुखैः, मदवर्षिभिरित्यर्थः । स्वयं स्वेनैव हतैः करिभिर्वर्त्तयते वृत्तिं करोति । तैरेव जीवतीत्यर्थः । चौरादिकाद् वृत्तेर्लट् । भौवादिकस्य तु 'अणावकर्मकाच्चित्तवत्कर्तृकात्' इति परस्मैपदनियमादिति । तथाहि—तेजसा प्रभावेण । 'तेजो बले प्रभावे च ज्योतिष्यर्चिषि रेतसि' इति वैजयन्ती । जगन्नवं

स्वघूकुर्वन्महांस्तेजस्व्यन्यतोऽन्यस्मात्पुरुषाद् भूतिं वृद्धिं नेच्छति खलु । नहि तेजस्विनः परायत्तवृत्तित्वं युक्तम् । मनुवचनं स्वशूरविषयमिति भावः । विशेषेण वक्ष्यमाणसामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ १८ ॥

मृगेन्द्र (सिंह) अपने मारे हुये मदस्रावी दन्तियों (हाथियों) के द्वारा अपना आहार सम्पादन (निर्वर्तन) करता है, उसी तरह महान् व्यक्ति संसार को अपने प्रताप से अभिभूत करता हुआ किसी अन्य की सहायता से अपने अभ्युदय की अभिलाषा नहीं करता॥

ननु युद्धात्पाक्षिको लाभः, उपायान्तरैस्तु न तथेत्याशङ्क्याह—

अभिमानधनस्य गत्वरैरसुभिः स्थास्नु यशश्चिचीषतः ।
अचिरांशुविलासचञ्चला ननु लक्ष्मीः फलमानुषङ्गिकम् ॥ १९ ॥

अभिमानेति । अभिमानधनस्य वैरनिर्यातनमात्रनिष्ठस्य । अत एव गत्वरैर्गमनशीलैरस्थिरैः । 'गत्वरश्च' इति क्वरबन्तो निपातः । असुभिः प्राणैः । करणैः । 'पुंसि भूम्न्यसवः प्राणाः' इत्यमरः । स्थास्नु स्थिरम् । 'ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः' इति ग्स्नुप्रत्ययः । यशश्चिचीषतश्चेतुं संग्रहीतुमिच्छतः । चिनोतेः सन्नन्ताच्छतृप्रत्ययः । अचिरमंशवो यस्याः साऽचिरांशुर्विद्युत्तस्या विलासः स्फुरणं तद्वच्चञ्चला, क्षणिकेत्यर्थः । लक्ष्मीः सम्पद्, अनुषङ्गादागतमानुषङ्गिकमन्वाचयशिष्टमल्पं फलम् । मानत्राणजं यश एव मुख्यं फलमभ्युच्चयस्तु लक्ष्मीरिति मानिनामिदमेव श्लाघ्यमित्यर्थः । अत्रास्थिरप्राणत्यागेन स्थिरयशःस्वीकाराभिधानान्न्यूनाधिकविनिमयाख्यः परिवृत्त्यलङ्कारः । तदुक्तं काव्यप्रकाशे—'परिवृत्तिर्विनिमयो योऽर्थानां स्यात्समासमैः' इति ॥ १९ ॥

जाति, कुल और मर्य्यादा की रक्षा को अपना सर्वस्व मानने वाले पुरुष अस्थिर प्राणों के द्वारा स्थायी यश के एकत्रीकरण की इच्छा करते हैं, कदाचित् उस के साथ २ विद्युल्लता के परिस्फुरण सदृश चपल लक्ष्मी भी प्राप्त हो जाय तो वह उन के लिये आनुषङ्गिक फल है अर्थात् उन का लक्ष्य तो यश है यदि लक्ष्मी भी मिल जाती है तो क्या कहना ॥ १९ ॥

नवलपस्य मानस्य हेतोः कथं प्राणत्यागः शक्यते कर्त्तुं, यतः—'जीवन्नरो भद्रशतानि पश्येद्' इत्याशङ्क्याह—

ज्वलितं न हिरण्यरेतसं चयमास्कन्दति भस्मनां जनः ।
अभिभूतिभयादसूनतः सुखमुज्झन्ति न धाम-मानिनः ॥ २० ॥

ज्वलितमिति । जनो भस्मनां चयं पुञ्जमास्कन्दति पादादिनाऽऽक्रामति । अदाहकत्वादिति भावः । ज्वलन्तम् । कर्त्तरि क्तः । 'मतिबुद्धि—' इत्यादिसूत्रे चकाराद्वर्तमानार्थत्वम् । हिरण्यं रेतो यस्य तं हिरण्यरेतसमग्निं नास्कन्दति । दाहकत्वादिति भावः । अतो हेतोर्मानिनोऽभिभूतिभयात्प्राणलाभेन तेजस्त्यागे परिभवो भविष्यतीति भयाद

सूनेव सुखमक्लिष्टमुज्झन्ति । मानहानिकराज्जीवनात्स्वतेजसा मरणमेव वरमित्यर्थः । पूर्वतरश्लोकवदर्थान्तरन्यासः ॥ २० ॥

लोग राख के ढेर को पदाक्रान्त करते हैं; परन्तु जाज्वल्यमान अग्नि को पदाक्रान्त नहीं करते । मानी मानहानि की आशङ्का से सुखपूर्वक प्राण विसर्जित कर देते हैं. पर अपने मान मर्य्यादा तथा तेज को धक्का नहीं लगने देते ॥ २० ॥

अथवा किमत्र प्रयोजनचिन्तया, किन्तु तेजस्विनामयं स्वभाव एव यज्जिगीषुत्वमित्याशयेनाह—

किमपेक्ष्य फलं पयोधरान् ध्वनतः प्रार्थयते मृगाधिपः ।
प्रकृतिः खलु सा महीयसः सहते नान्यसमुन्नतिं यया ॥ २१ ॥

किमिति । मृगाधिपः सिंहः किं फलं प्रयोजनमपेक्ष्य ध्वनतो गर्जतः । धरन्तीति धराः । पचाद्यच् । पयसां धरास्तान्पयोधरान्मेघान्प्रार्थयतेऽभियाति, 'याञ्चायामभियाने च प्रार्थना कथ्यते बुधैः' इति केशवः । यद्वा—अवरुणद्धीत्यर्थः । प्रा अर्थयते । 'प्रा स्याद् याञ्चाऽवरोधयोः' इत्यभिधानात्प्रा अवरोधेन । प्रा इति तृतीयान्तस्य प्राशब्दस्य योगविभागाद् 'आतो धातोः' इत्याल्लोपः । तथा हि—महीयसो महत्तरस्य सा प्रकृतिः खलु यया प्रकृत्याऽन्यसमुन्नतिं न सहते । महतः परभञ्जनमेव पुरुषार्थं इत्यर्थः । पूर्ववदलङ्कारः ॥ २१ ॥

सिंह किस फल की आशा से गरजते मेघों को देख ऊपर को उछलता है, बड़े लोगों का वह स्वभाव है जिसके कारण किसी के अभ्युदय को वे सहन नहीं कर सकते ॥ २१ ॥

सम्प्रत्युक्तप्रयोजनं निगमयति—उक्तार्थोपसंहरणं निगम उच्यते—

कुरु तन्मतिमेव विक्रमे नृप ! निर्धूय तमः प्रमादजम् ।
ध्रुवमेतदवेहि विद्विषां त्वदनुत्साहहता विपत्तयः ॥ २२ ॥

कुरु तदिति । हे नृप ! तत्तस्मादुक्तरीत्या पराक्रमोत्साहयोर्हेतुत्वाद्धेतोः, 'यत्तद्यतस्ततो हेतौ' इत्यमरः । प्रमादजं तमो मोहं निर्धूयं निरस्य विक्रमे पौरुष एव मतिं कुरु, न तूपायान्तरमित्यर्थः । न च विक्रमवैफल्यशङ्का कार्येत्याह—ध्रुवमिति । विद्विषां विपत्तयस्त्वदनुत्साहहतास्तवानुत्साहेनाव्यवसायेन हताः प्रतिबद्धाः । अन्यथा प्रागेव विपद्येरन्निति भावः । इत्येतद् ध्रुवं निश्चितमवेहि विद्धि । 'ध्रुवं नित्ये निश्चिते च' इति शाश्वतः ॥ २२ ॥

उत्साह और पराक्रम ही प्रधान है, अतः हे महाराज, अनवधानता के अन्धकार को मार भगाइये, पराक्रमावलम्बी होने का विचार कीजिये । इस बात को अटल मानिये कि शत्रुओं की विपत्ति केवल आप के अनुत्साह के कारण दूर है, अगर आप उत्साही हो जाँय तो तुरत शीघ्र ही विपद्ग्रस्त हो जाँय ॥ २२ ॥

न च नः पराजयशङ्का कार्येत्याह—

द्विरदानिव दिग्विभावितांश्चतुरस्तोयनिधीनिवायतः ।
प्रसहेत रणे तवानुजान् द्विषतां कः शतमन्युतेजसः ॥ २३ ॥

द्विरदानिति । दिग्विभावितान्दिक्षु प्रसिद्धांस्तानायत आगच्छतः । आङ्पूर्वादिणधातोः शतृप्रत्ययः । चतुरो द्विरदान्दिग्गजानिव, तथोक्तविशेषणांश्चतुरस्तोयनिधीनिव, रण आयतो दिग्विभावितान्शतमन्युतेजस इन्द्रविक्रमांश्चतुरस्तवानुजान्द्विषतां मध्ये कः प्रसहेत । सोढुं शक्नुयादित्यर्थः । 'शकि लिङ् च' इति शक्यार्थे लिङ् । अतो निःशङ्कं प्रवर्त्तस्वेति भावः ॥ २३ ॥

(यदि आप कहें कि ऐसा करने में पराजय की आशङ्का है तो कदापि नहीं—) सम्पूर्ण दिशाओं में विदित, मतङ्गजों और चारों समुद्रों की भाँति, समराङ्गण की ओर प्रस्थान करते हुये इन्द्र के सदृश पराक्रमशाली आप के कनिष्ठ भ्राताओं के पराक्रम को, शत्रुओं में ऐसा कौन है जो सह सकता है ? ॥ २३ ॥

आशीर्वादव्याजेन फलितमाह—

ज्वलतस्तव जातवेदसः सततं वैरिकृतस्य चेतसि ।
विदधातु शमं शिवेतरा रिपुनारीनयनाम्बुसन्ततिः ॥ २४ ॥

ज्वलत इति । तव चेतसि, सततं ज्वलतो वैरिकृतस्य जातवेदसः । क्रोधाग्नेरित्यर्थः । शिवेतराऽशिवाऽमङ्गला । वैधव्य दुःखजनकत्वादिति भावः । रिपुनारीनयनाम्बुसन्ततिर्वैरिवनिताऽश्रुप्रवाहः शमं विदधातु । वैरिकृतस्य क्रोधस्य वैरिवधमन्तरेण शान्त्यसम्भवादवश्यं तद्वधस्त्वया कर्त्तव्य इत्यर्थः । क्रोधस्य विषयस्य निगरणेन विषयिणो जातवेदस एवोपनिबन्धादतिशयोक्तिरलङ्कारः । तदुक्तं—'विषयस्यानुपादानाद्विषय्युपनिबध्यते । यत्र साऽतिशयोक्तिः स्यात्कवेः प्रौढोक्तिजीविता' ॥ इति । तत्रापि क्रोधस्य जातवेदसो भेदेऽप्यभेदाध्यवसायाद् भेदेऽभेदरूपा । तत एवम्बुनिर्वाप्यत्वोक्तिश्च घटते । तया च—यथाऽम्बुसेकेनाग्निः शाम्यति तथा शत्रुवधेन क्रोध इत्यौपम्यं गम्यते ॥ २४ ॥

शत्रु के कारण आप के अन्तःकरण में सतत जाज्वल्यमान क्रोधाग्नि को, अमङ्गलसूचक रिपुरमणियों के नेत्र की अश्रुधारा शमन करे अर्थात् आप के शत्रु मारे जाँय, उनकी विधवा स्त्रियाँ उनके वियोग में करुण रुदन करें, जिससे आप के हृदय की ज्वाला शान्त हो ॥ २४ ॥

इति दर्शितविक्रियं सुतं मरुतः कोपपरीतमानसम् ।
उपसान्त्वयितुं महीपतिर्द्विरदं दुष्टमिवोपचक्रमे ॥ २५ ॥

इतीति । इत्युक्तरीत्या दर्शिता विक्रिया विकारो वागारम्भात्मको येन तं कोप

परीतमानसं कोपाक्रान्तचित्तम्। इदं विशेषणद्वयं द्विरदेऽपि योज्यम्। मरुतः सुतं भीमं महीपतिर्युधिष्ठिरो दुष्टं द्विरदमिव। एतेन भीमस्य शौर्यमेव, न बुद्धिरस्तीति गम्यते। उपसान्त्वयितुमनुनेतुमुपचक्रमे प्रवृत्तः 'प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम्' इत्यात्मनेपदम्। राज्ञा तावदुपकारविशेषापेक्षया कथञ्चिदवशो जनः शनैः शनैर्द्विरदवद्वशीकरणीयः, न तु त्याज्य इति भावः॥ २५॥

भूपति (युधिष्ठिर), उपर्युक्त प्रकार के विकारोत्पादनकर्ता क्रोध से आक्रान्तचित्त, वायुनन्दन भीमसेन को, दुष्ट मतवाले दन्ती (हाथी) की तरह वश में करने का प्रयत्न करने लगे॥ २५॥

प्रथमं तावत्स्तुत्यादिभिः प्रसादयति—

अपवर्जितविप्लवे शुचौ हृदयग्राहिणि मङ्गलास्पदे।
विमला तव विस्तरे गिरां मतिरादर्श इवाभिदृश्यते॥ २६॥

अपवर्जितेति। विप्लवः प्रमाणबाधः। अन्यत्र बाह्यमलसंक्रमः सोऽपवर्जितो यस्य तस्मिन्नपवर्जितविप्लवे। शुचौ। सौशब्द्यं लोहशुद्धिश्च शुचित्वम्। तद्वतीत्यर्थः। अत एव हृदयग्राहिणि मनोरमे मङ्गलास्पदे। एकत्र हितार्थप्रतिपादकत्वादन्यत्र मङ्गलवस्तुत्वाच्च श्रेयस्करे। 'रोचनं चन्दनं हेम मृदङ्गं दर्पणं मणिम्। गुरूनग्निं तथा सूर्यं प्रातः पश्येत्सदा बुधः'॥ इति पुराणवचनात्। तव गिरां विस्तरे वाक्प्रपञ्चे। 'प्रथने वावशब्दे' इति घञ्प्रतिषेधाद् 'ऋदोरप्' इत्यप्। अत एव विस्तारो विग्रहो व्यासः स तु शब्दस्य विस्तरः' इत्यमरः। मतिस्त्वद्बुद्धिरादर्शो दर्पण इव। 'दर्पणे मुकुरादर्शौ' इत्यमरः। विमला विशदाऽभिदृश्यते। वाग्वैशद्यादेव मतिवैशद्यमनुमीयते। तत्पूर्वकत्वात्तस्येत्यर्थः॥ २६॥

महाराज युधिष्ठिर ने कहा—'जिस तरह ऊपरी मलिनता से मुक्त (निर्मल), लौह काष्ठादि सामग्रियों से सुनिर्मित, चित्ताकर्षक और मङ्गलकारी दर्पण में रूप का प्रतिबिम्ब स्वच्छ दृष्टिगोचर होता है; उसी तरह प्रमाण युक्त, सुन्दर शब्द योजना युक्त प्रिय और हितकर वाक्प्रपञ्च में तुम्हारी सुबुद्धि स्पष्ट रूप से प्रतिबिम्बित होती है॥ २६॥

अथ युग्मेनाह—

स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम्।
रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितं क्वचित्॥ २७॥

स्फुटतेति। पदैः सुप्तिङन्तशब्दैः स्फुटता विशदार्थता नापाकृता न त्यक्ता। अर्थगौरवमर्थभूयस्त्वं च न न स्वीकृतम्। स्वीकृतमेवेत्यर्थः। वैशद्यप्रसक्तार्थगौरवाभावनिवर्तनार्थे नञ्द्वयम्। 'सम्भाव्यनिषेधनिवर्तने द्वौ प्रतिषेधौ' इति वामनः। गिरां पदानामवान्तरवाक्यानां च पृथगर्थता भिन्नार्थता। अपुनरुक्तार्थतेति यावत्। रचिता कृता। तथा

क्वचिदपि सामर्थ्यं गिरामन्योऽन्यसाकाङ्क्षत्वं नापोहितं न वर्जितम् । अन्यथा दश-दाडिमादिशब्दवदेकवाक्यता न स्याद् । यथाऽऽहुः—'अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद्विभागे स्याद्' इति । नन्वर्थगौरवमित्यत्र कथं षष्ठीसमासः, 'पूरणगुण—' इत्यादिना प्रतिषेधाद् । नैष दोषः । ये शुक्लादयः शब्दा गुणे गुणिनि च वर्त्तन्ते यथा पटस्य शौक्ल्यं शुक्लः पट इति च तेषामेवात्र निषेधाद् । ये पुनः स्वतो गुणमात्रवचना यथा—गौरवं प्राधान्यं रसो गन्धः स्पर्श इत्येवमादयः, तेषामनिषेधात् । तथा 'तत्स्थैश्च गुणैः षष्ठी समस्यते' इति वचनाद् बहुलमभियुक्तप्रयोगदर्शनाच्च । बलाकायाः शौक्ल्यमित्यादौ तु भाष्यकारवचनादसमासः । अत एवाह वामनः—'पत्रपीतिमादिषु गुणवचनसमासो बालिश्याद्' इति ॥ २७ ॥

तुमने सुबन्त और तिङन्त पदों से पदविन्यास में न्यूनता नहीं की है, अर्थगाम्भीर्य को स्थान न दिया हो सो भी नहीं, वाक्यों में परस्पर विरुद्ध भावों का भी संघर्ष नहीं होने पाया है तात्पर्य्य यह कि पुनरुक्त दोष से भी मुक्त है और परस्पर शब्दों की आकांक्षा का भी परित्याग नहीं होने पाया है अर्थात् व्याकरण सम्बन्धी त्रुटियाँ भी तुम्हारी वाक्य-रचना में नहीं होने पायी हैं ॥ २७ ॥

उपपत्तिरुदाहृता बलादनुमानेन न चागमः क्षतः ।
इदमीदृगनीदृगाशयः प्रसभं वक्तुमुपक्रमेत कः ॥ २८ ॥

उपपत्तिरिति । किञ्च बलाद् बलमाश्रित्य । कर्मणि ल्यब्लोपे पञ्चमी वक्तव्या । उपपत्तिर्युक्तिरुदाहृता । पराक्रमपक्ष एव श्रेयानिति युक्तिरुक्तेत्यर्थः । उचितं चैतन्महावीरस्येति भावः । तथाऽनुमानेन युक्त्याऽऽगमः शास्त्रं च न क्षतो न हतः । किन्त्वागमाविरुद्धमेवोक्तम् । अन्यथा—तद्विरोधानुमानस्यैव प्रामाण्यभङ्गादिति भावः । ईदृगित्थं चात्रयुक्तमिदं वचनमविद्यमान ईदृगाशय इत्थं चात्रयुक्ताभिप्रायो यस्य सोऽनीदृगाशयः । 'अभिप्रायश्छन्द आशयः' इत्यमरः । कः प्रसभं हठाद्वक्तुमुपक्रमेत । न कोऽपीत्यर्थः । इत्थं वक्तुमुपक्रमितैव नास्ति । वक्ता तु दूरापास्त एवेति भावः । केचिदेतच्छ्लोकत्रयं निन्दापरत्वेनापि योजयन्ति । तदसद् । हितोपदेशमात्रतत्परस्यातिवत्सलस्य राज्ञो मत्सरिण इव महावीरे भ्रातरि विधेये सर्वानर्थमूलभूतनिन्दातात्पर्यकल्पनाऽनौचित्यादिति ॥ २८ ॥

तुमने जिन युक्तियों का उदाहरण दिया है सब पुरुषार्थ का अवलम्बन करती हैं और तर्क से जिन युक्तियों को सिद्ध किया है वे नीति शास्त्र विरुद्ध नहीं हैं । कौन ऐसा पुरुष है जो इस विचार से सहमत न हो और बलात् इस प्रकार कहने के लिये तय्यार हो ॥ २८ ॥

यदि साधूक्तं तर्हि तथैव क्रियतामित्याशङ्क्याह—

अवितृप्ततया तथाऽपि मे हृदयं निर्णयमेव धावति ।
अवसाययितुं क्षमाः सुखं न विधेयेषु विशेषसम्पदः ॥ २९ ॥

अवितृप्ततयेति । तथाऽपि त्वया सम्यङ्निर्णीतेऽपि मे हृदयमवितृप्ततयाऽसन्तुष्टतया । अद्यापि संशयगतत्वेनेत्यर्थः । निर्णयमेव धावत्यनुसरति । अपेक्षत इति यावद् । अद्यापि निर्णयस्यानुदयादिति भावः । निर्णयानुदये हेतुमाह—अवेति । विधेयेषु सन्धिविग्रहादिकर्त्तव्यार्थेषु या विशेषसम्पदोऽवान्तरभेदभूमानस्ताः सुखमक्लेशेनावसाययितुम् । पुरुषान्प्रत्यानुकूल्येन स्वस्वरूपं स्वयमेव शीघ्रं प्रत्याययितुमित्यर्थः । स्यतेर्ण्यन्तादणिकर्मकर्तृकात्तुमुन् । णेरणादिसूत्रस्यायं विषयः । क्षमन्त इति क्षमाः । पचाद्यच् । शक्ता न भवन्ति । 'क्षमं शक्ते हिते त्रिषु' इत्यमरः । विधेयमात्रस्य सुगमत्वेऽपि तद्विशेषाणां सौक्ष्म्याद्बाहुल्याच्च दुर्ज्ञेयत्वादद्यापि निर्णयाकाङ्क्षेति तात्पर्यार्थः । अत्र निर्णयधावनं प्रत्युत्तरवाक्यार्थस्य हेतुत्वाभिधानाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः । तदुक्तं—'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम्' इति ॥ २९ ॥

यद्यपि उचित प्रतिपादन किया गया है तथापि मेरे मन को सन्तोष न हुआ, अतः वह कर्तव्यानुष्ठान के निर्णय की ओर अग्रसर हो रहा है । विशेष सम्पत्तियाँ सन्धि, विग्रहादि कर्तव्यानुष्ठान के विषय में अपने स्वरूप को सरलतापूर्वक प्रकट करने में असमर्थ होती हैं ॥

वस्तुविशेषावधारणमन्तरेणैव प्रवृत्तिरित्याशङ्क्याह—

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥ ३० ॥

सहसेति । क्रियत इति क्रिया कार्यं सहसा । अविमृश्येत्यर्थः । 'सहसेत्याकस्मिकाविमर्शयोः' इति गणव्याख्याने स्वरादिपाठादव्ययम् । न विदधीत न कुर्वीत । कुतः । अविवेकोऽविमृश्यकारित्वं परमत्यन्तमापदां पदं स्थानम् । कारणमित्यर्थः । व्यतिरेकेणोक्तमर्थमन्वयेनाह—वृणत इति । गुणलुब्धा गुणगृध्नव इति स्वयंवरहेतूक्तिः । सम्पदः श्रियः । विमृश्य करोतीति विमृश्यकारी । 'उपपदमतिङ्' इति समासः । त स्वयमेव वृणते भजन्ते हि । 'वृङ् संभक्तौ' इति धातुः । तस्माद्विमृश्यैव प्रवर्त्तितव्यमित्यर्थः । अत्र सहसाविधाननिषेधलब्धविमृश्यकारित्वरूपकारणस्यापद्रूपव्यतिरेककार्येण समर्थनाद्वैधर्म्येणार्थान्तरन्यासः । द्वितीयार्धेन च स एव साधर्म्येणेति ज्ञेयम् ॥ ३० ॥

एकाएक (विवेचना किये बिना) किसी कार्य का आरम्भ नहीं करना चाहिये । सम्यक् विचार न करना परम आपत्ति का उत्पादक होता है । गुण के ऊपर अपने आप को समर्पण करनेवाली सम्पत्तियाँ विचारवान् पुरुष को स्वयं मनोनीत करती हैं अर्थात् जो कुछ किया जाय उसके आगे पीछे की सब बातों का विचार कर लेना चाहिये ॥ ३० ॥

ननु साहसिकस्यापि फलसिद्धिर्दृश्यत एव । तत्किं विवेकेनेत्यत्राह—

अभिवर्षति योऽनुपालयन्विधिबीजानि विवेकवारिणा ।
स सदा फलशालिनीं क्रियां शरदं लोक इवाधितिष्ठति ॥ ३१ ॥

अभीति । यः पुमान् । विधीयन्त इति विधयः कृत्यवस्तूनि बीजानीवेत्युपमित-समासः । शरदं लोक इवेति वाक्यगतोपमाऽनुसारात् । तानि विधिबीजानि । विवेको वारीव तेन विवेकवारिणा । पूर्ववत्समासः । अनुपालयन्प्रतीक्षमाणः संरक्षन्नभिवर्षति सिञ्चति । स पुमान् । फलं साधननिष्पाद्योऽर्थः, सस्यं च 'सस्ये हेतुकृते फलम्' इत्यु-भयत्राप्यमरः । तच्छालिनीं क्रियां कर्म लोको जनः । 'लोकस्तु भुवने जने' इत्यमरः । शरदमिव सदा नित्यमधितिष्ठति । सदा क्रियाफलं प्राप्नोत्येव । न कदाचिद्व्यभि-चरतीत्यर्थः । साहसिकस्य काकतालीयन्यायेन फलसिद्धिर्विवेकिनस्तु नियतेति भावः । अत्र फलशब्देन सस्यहेतुकृतयोरर्थयोरभेदाध्यवसायाच्छ्लेषमूलातिशयोक्तिस्तदनुगृ-हीता चोपमेत्यनुसन्धेयम् ॥ ३१ ॥

जो विवेकी पुरुष कर्तव्य विषयों को बीज के समान मान कर उसे सम्यक् विचार रूप जल से सिञ्चन करते हैं, वे (पुरुष) सर्वदा उसी तरह फलसिद्धि प्राप्त करते हैं जिस तरह कृषक सस्यों का सिञ्चन करते हुए शरत्काल में उसके फल से सुशोभित सस्य सम्पत्ति को प्राप्त करता है ॥ ३१ ॥

नियता विवेकिनः फलसिद्धिरित्युक्तम् । सम्प्रति तामेव रुच्यर्थं स्तौति—

शुचि भूषयति श्रुतं वपुः प्रशमस्तस्य भवत्यलंक्रिया ।
प्रशमाभरणं पराक्रमः स नयापादितसिद्धिभूषणः ॥ ३२ ॥

शुचीति । शुचि संप्रदायशुद्धं श्रुतं शास्त्रश्रवणं कर्तृ वपुर्भूषयति । अन्यथा विद्वान् रूपः शोच्य इति भावः । तस्य श्रुतस्य प्रशमः क्रोधोपशान्तिरलंक्रिया भूषणं भवति अन्यथा श्रुतवैफल्यादिति भावः । पराक्रमः सत्यवसरे शौर्यं प्रशमस्याभरणं भवति अन्यथा सर्वैः परिभूयत इति भावः । स पराक्रमः । नयापादिता नीतिसम्पादिता विवेकपूर्विकेति यावत् । सा चासौ सिद्धिश्च सैव भूषणं यस्य स तथोक्तः । अन्यथा साहसिकस्य सिद्धिः काकतालीयत्वेन पक्षे पराक्रमवैयर्थ्यं स्यादिति भावः । 'वपुषो भूष्यतैवात्र सिद्धेर्भूषणतैव तु । उभयं मध्यमानां तु तेषां पूर्वोत्तरेच्छया' ॥ इति विवेकः । एवं विशिष्टसिद्धेरनन्यभूषिताया एव भूषणत्वोक्त्या सर्वोत्तरतया स्तुतिर्गम्यते अत्रोत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वविशेषणत्वादेकावल्यलङ्कारः । तदुक्तं—'यत्र विशेषणभावं पूर्वं पूर्वं प्रति क्रमेणैव । भजति परं परमेषाऽलङ्कृतिरेकावली कथिता' ॥ इति ॥ ३२ ॥

गुरुसम्प्रदाय से शुद्ध शास्त्राभ्यास शरीर की शोभा बढ़ाता है । क्रोध का उपशम करना उस शास्त्र का अलङ्कार होता है । अवसर प्राप्त होने पर शौर्य (पराक्रम

क्रोधोशपान्ति का भूषण होता है और नीतिसम्पादित विवेकपूर्विका सिद्धि पराक्रम का आभरण होती है। तात्पर्य्य यह है कि विवेकी पुरुष की कार्य्यसिद्धि अवश्यम्भाविनी है और साहसियों की फलसिद्धि सन्देह रूप झूले पर झूलती रहती है॥ ३२॥

'विमृश्य कुर्यादि'ति स्थितम्। तत्र विमर्शोपायः कः ? इत्युक्ते शास्त्रमेवेत्याह—

मतिभेदतमस्तिरोहिते गहने कृत्यविधौ विवेकिनाम्।
सुकृतः परिशुद्ध आगमः कुरुते दीप इवार्थदर्शनम्॥ ३३॥

मतीति। मतिभेदः कार्यविप्रतिपत्तिः। मतिभेदस्तम इवेत्युपमितसमासः। दीप इवेत्युपमाऽनुसारात्। तेन तिरोहिते आच्छन्नेऽत एव गहने दुरवगाहे कृत्यविधौ कार्यानुष्ठाने विवेकिनां सुकृतः सदभ्यस्तोऽत एव परिशुद्धो निश्चितोऽन्यत्र सुविहितिः प्रवातादिदोषरहितश्च। आगमः शास्त्रम्। 'आगमः शास्त्र आयतौ' इति विश्वः। दीप इवार्थदर्शनं कार्यज्ञानं वस्तुप्रतिभासनं च कुरुते॥ ३३॥

जिस प्रकार वातादिक विघ्नों से सुरक्षित और सुव्यवस्थित प्रदीप अन्धकाराच्छन्न वस्तु के प्रदर्शन कराने में समर्थ होता है उसी तरह जब विवेकी पुरुष कर्तव्यानुष्ठान के समय संकल्प और विकल्प में पड़ जाता है, उस समय सम्यक् अभ्यस्त और परिशुद्ध शास्त्रज्ञान उसके कर्तव्यपथ का प्रदर्शक होता है॥ ३३॥

एवं विमृश्य कुर्वतो दैवादनर्थागमोऽपि न कश्चिदपराध इत्याह—

स्पृहणीयगुणैर्महात्मभिश्चरिते वर्त्मनि यच्छतां मनः।
विधिहेतुरहेतुरागसां विनिपातोऽपि समः समुन्नतेः॥ ३४॥

स्पृहणीयेति। स्पृहणीयगुणैर्लोकश्लाघ्यगुणैर्महात्मभिः सज्जनैश्चरितेऽनुष्ठिते वर्त्मन्याचारे मनो यच्छतां निदधताम्। सन्मार्गेण व्यवहरतामित्यर्थः। विधिहेतुर्दैवनिमित्तकः। 'विधिर्विधाने दैवे च' इत्यमरः। अत एवागसामपराधानामहेतुर्विनिपातो दैविकानर्थोऽपि। 'विनिपातोऽवपाते स्याद् दैवाद्व्यसनेऽपि च' इति विश्वः। समुन्नतेरतिवृद्धेः समस्तुल्यः। दैविकेषु पुरुषस्यानुपालभ्यत्वादिति भावः। यथाऽऽह कामन्दकः—'यत्तु सम्यगुपक्रान्तं कार्यमेति विपर्ययम्। पुरुषस्त्वनुपालभ्यो दैवान्तरितपौरुषः'॥ इति॥ ३४॥

प्रशस्त गुणशाली महापुरुषों के द्वारा आचरित पथ का अवलम्बनकर्ता व्यक्ति की आपत्ति (अवनति) किन्हीं भी अपराधों का कारण नहीं होती और अदृष्ट ही उसका कारण होता है, तथा वह भी उन्नति के समान ही है॥ ३४॥

शिवमौपयिकं गरीयसीं फलनिष्पत्तिमदूषितायतिम्।
विगणय्य नयन्ति पौरुषं विजितक्रोधरया जिगीषवः॥ ३५॥

शिवमिति । जिगीषवो विजयेच्छवो नृपा विजितक्रोधरया जितक्रोधवेगाः सन्तो गरीयसीं प्रभूतामदूषितायतिमवतोत्तरकालाम् । स्वन्तामित्यर्थः । फलनिष्पत्तिं फलसिद्धिं विगणय्य । फलवत्वं निश्चित्येत्यर्थः । पौरुषं पुरुषकारं शिवमनुकूलमौपयिकमुपायम् । विनयादित्वात्स्वार्थे ठक् । उपायाद्ध्रस्वत्वं च । नयन्ति प्रापयन्ति । पौरुषमुपायेन योजयन्तीत्यर्थः । नानिश्चितफलं कर्म कुर्वत इति भावः । यथाऽऽह कामन्दकः—'निष्फलं क्लेशबहुलं सन्दिग्धफलमेव च । न कर्म कुर्यान्मतिमान्सदा वैरानुबन्धि च' ॥ इति । नयतिः प्रापणार्थे द्विकर्मकः । अत्र पौरुषस्य कर्तृस्थकर्मत्वेऽप्युपायस्यात्तथात्वात्क्रोधं विनयत इत्यादिवत् 'कर्तृस्थे चाशरीरे कर्मणि' इत्यात्मनेपदं न भवति ॥ ३५ ॥

विजयेच्छु पुरुष क्रोध के आवेग को जीत कर, फलसिद्धि की बहुलता और उत्तर काल में उसकी स्थिरता का सम्यक् विचार करके पौरुषकार को उपाय से युक्त करते हैं ॥ ३५ ॥

यदुक्तं 'विजितक्रोधरया' इति तदावश्यकमित्याह—

अपनेयमुदेतुमिच्छता तिमिरं रोषमयं धिया पुरः ।
अविभिद्य निशाकृतं तमः प्रभया नांशुमताऽप्युदीयते ॥ ३६ ॥

अपनेयमिति । उदेतुमभ्युदेतुमिच्छता राज्ञा पुरः प्रथमं रोषमयं रोषादागतम् 'मयट् च' इति मयट् । तिमिरमज्ञानं धिया विवेकबुद्ध्या करणेनापनेयमपनोद्यम् । तथा हि—अंशुमताऽपि कर्त्रा प्रभया तेजसा करणेन निशाकृतं तमो ध्वान्तमविभिद्य नोदीयते । किन्तु विभिद्यैवेत्यर्थः । सूर्यस्याप्येवं किमुतान्येषामित्यपिशब्दार्थः । इणो भावे लट् ॥ ३६ ॥

उदयाभिलाषी पुरुष को चाहिये कि सर्व प्रथम बुद्धि से अज्ञान को मार भगावे । अंशुमाली (सूर्य्य) भी रात्रिजनित अन्धकार को नष्ट किये विना उदित नहीं होते ॥ ३६ ॥

ननु दुर्बलस्यैवमस्तु, बलीयसस्तु क्रोधादेव कार्यसिद्धिरित्यत आह—

बलवानपि कोपजन्मनस्तमसो नाभिभवं रुणद्धि यः ।
क्षयपक्ष इवैन्दवीः कलाः सकलाः हन्ति स शक्तिसम्पदः ॥ ३७ ॥

बलवानिति । बलवाञ्छूरोऽपि यः कोपाजन्म यस्य तस्य कोपजन्मनः । 'अवजो बहुव्रीहिर्व्यधिकरणो जन्माद्युत्तरपदः' इति वामनः । तमसो मोहस्य । कृद्योगात्कर्तरि षष्ठी । अभिभवमाक्रान्तिं न रुणद्धि न निवारयति । स नृपः । क्षयस्य पक्षः क्षयपक्षः कृष्णपक्ष ऐन्दवीरिन्दुसम्बन्धिनीः कला इव । 'कला तु षोडशो भागः' इत्यमरः । सकलाः समग्राः शक्तिसम्पदः प्रभुमन्त्रोत्साहशक्तीस्तिस्रोऽपि हन्ति नाशयति । अन्धस्य जङ्घाबलमिव क्रोधान्धस्य लोकोत्तरमपि सामर्थ्यं व्यर्थमेवेत्यर्थः ।

अत्र कालस्य सर्वकारणत्वात्तत्पक्षस्य कलाक्षयकारित्वमस्त्येव । तमसस्तु तत्कालविजृम्भणात्तथा व्यपदेशः ॥ ३७ ॥

शूर होता हुआ भी जो पुरुष क्रोध से उत्पन्न होने वाले मोह की आक्रान्ति का अवरोध नहीं करता, वह कृष्णपक्षीय चन्द्रमा की कलाओं की भांति अपनी प्रभु, मन्त्र, और उत्साह इन तीनों शक्तियों से हाथ धो बैठता हैं ॥ ३७ ॥

विमृश्य कुर्वतः क्रियाप्रकारमाह—

समवृत्तिरुपैति मार्दवं समये यश्च तनोति तिग्मताम् ।
अधितिष्ठति लोकमोजसा स विवस्वानिव मेदिनीपतिः ॥ ३८ ॥

समेति । यः समा नातिमृदुर्नातितिग्मा वृत्तिर्यस्य स समवृत्तिः सन् समये सत्यवसरे मार्दवं मृदुवृत्तित्वमुपैति तिग्मतां तीक्ष्णवृत्तित्वं च तनोति । स मेदिनीपतिर्विवस्वानिव, ओजसा तेजसा लोकमधितिष्ठत्याक्रामति । सूर्योऽपि, ऋतुभेदेन समवृत्तिरित्यादि योज्यम् ॥ ३८ ॥

वह भूमिपाल, जो न तो अत्यन्त सरलता और न अत्यन्त क्रूरता का अवलम्बन करता है, यथासमय और यथावसर कोमलता और क्रूरता दोनों का व्यवहार करता रहता है, वह सूर्य्य के समान अपने प्रताप से समग्र संसार पर आधिपत्य स्थिर रखता है ॥ ३८ ॥

उक्तान्यथाकरणेऽनिष्टमाह—

क्व चिराय परिग्रहः श्रियां क्व च दुष्टेन्द्रियवाजिवश्यता ।
शरदभ्रचलाश्चलेन्द्रियैरसुरक्षा हि बहुच्छलाः श्रियः ॥ ३९ ॥

क्वेति । श्रियां संपदां चिराय बहुकालं परिग्रहः स्वायत्तीकरणं क्व ? इन्द्रियाणि वाजिन इवेत्युपमितसमासः। दुष्टानाममार्गधाविनामिन्द्रियवाजिनां वश्यो वशङ्गतस्तस्य भावस्तत्ता क्व ? नोभयमेकत्र तिष्ठतीत्यर्थः । कुतः । हि यस्माच्छरदभ्रवच्चलाश्चलाः । किञ्चबहुच्छला बहुव्याजाः । बहुरन्ध्रा इति यावद् । 'छलं तु स्खलिते व्याजे' इति विश्वः । श्रियः संपदः । चलेन्द्रियैरजितेन्द्रियैरसुरक्षा रक्षितुमशक्याः । कथञ्चित्प्राप्ता अपि श्रियो नाविनीतेषु तिष्ठन्तीत्यर्थः । वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥

चिर काल तक सम्पत्तियों का वशीकरण कहां और उन्मार्गगामी घोड़ों की भाँति दुष्ट इन्द्रियों को अपने वश में करना कहां ? (क्योंकि) सम्पत्तियाँ शरत्कालीन मेघ की तरह चञ्चल और अनेक छिद्रों से पूर्ण हैं । चंचलेन्द्रिय पुरुषों के द्वारा उनकी रक्षा होना सामर्थ्य के बाहर है ॥ ३९ ॥

क्रोधस्य दुष्टतामुक्त्वा तस्य त्यागमुपदिशति—

किमसामयिकं वितन्वता मनसः क्षोभमुपात्तरंहसः ।
क्रियते पतिरुच्चकैरपां भवता धीरतयाऽधरीकृतः ॥ ४० ॥

किमिति । उपात्तरंहसः, प्राप्तत्वरस्य मनसः । समयोऽस्य प्राप्तः सामयिकः । 'समयस्तदस्य प्राप्तम्' इति ठञ् । स न भवतीत्यसामयिकस्तमप्राप्तकालं क्षोभं वितन्वता भवता धीरतया धैर्यगुणेन । 'मनसो निर्विकारत्वं धैर्यं सत्स्वपि हेतुषु' इति रसिकाः । अधरीकृतस्तिरस्कृतः । प्रागिति शेषः । अपां पतिः समुद्रः किं किमर्थमुच्चकैरधिकः क्रियते । न पराजितं पुनरुच्चकैः कुर्यादिति भावः । अत्र वितन्वतेति भीमविशेषणत्वेन, अपाम्पतिपदार्थस्योच्चैःकरणे हेतुत्वोक्त्या काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ४० ॥

आपने अपने धैर्य्य के कारण जलराशि समुद्र को जीत लिया है, फिर वेगवान् मन में असामयिक क्षोभ उत्पन्न करके उसे बढ़ने का अवसर क्यों प्रदान करते हैं ? अभिप्राय यह कि समुद्र अनन्त जलराशि प्राप्त करने पर भी अपनी मर्य्यादा का उल्लङ्घन नहीं करता और भीमसेन ने भी अनेकानेक विपत्तियों से आक्रान्त होने पर भी धैर्य्य का परित्याग नहीं किया था, अतः समुद्र पर आप विजयी बने थे, अब असामयिक क्षोभ के कारण धैर्य्य परित्याग करने से फिर समुद्र को ही विजयी बनने का अवसर प्राप्त होता है ॥ ४० ॥

श्रुतमप्यधिगम्य ये रिपून् विनयन्ते न शरीरजन्मनः ।
जनयन्त्यचिराय सम्पदामयशस्ते खलु चापलाश्रयम् ॥ ४१ ॥

श्रुतमिति । किञ्च । ये श्रुतं शास्त्रमधिगम्यापि शरीरजन्मनः शरीरप्रभवान् रिपून्कामक्रोधादीन्न विनयन्ते न नियच्छन्ति । 'कर्तृस्थे चाशरीरे कर्मणि' इत्यात्मनेपदम् । ते खल्वचिराय सम्पदां चापलाश्रयमस्थैर्यनिबन्धनमयशो दुष्कीर्तिं जनयन्ति । आश्रयदोषादस्थैर्यं सम्पदां न स्वदोषादित्यर्थः । अजितारिषड्वर्गस्य कुतः सम्पद इति भावः ॥ ४१ ॥

जो लोग शास्त्र के ज्ञाता होकर भी अपने शरीर से प्रादुर्भूत काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, और अहंकार इन शत्रुओं को अपने वश में नहीं करते, वे शीघ्र चञ्चला सम्पत्तियों की अपकीर्ति के भागी होते हैं अर्थात् अल्पकाल में ही उनकी सम्पूर्ण सम्पत्ति का अवसान हो जाता है ॥ ४१ ॥

तथा क्रोधात्कार्यहानिरित्याशयेनाह—

अतिपातितकालसाधना स्वशरीरेन्द्रियवर्गतापनी ।
जनवन्न भवन्तमक्षमा नयसिद्धेरपनेतुमर्हति ॥ ४२ ॥

अतिपातितेति । अतिपातितान्यतिक्रान्तानि कालः समयोऽनुरूपः साधनानि सहायादीनि यया सा तथोक्ता । तापयतीति तापनी । कर्त्तरि ल्युट् । टित्त्वान्ङीप् । स्वस्य यच्छरीरमिन्द्रियवर्गश्च तयोस्तापन्यक्षमा क्रोधो भवन्तं जनवत्पृथग्जनमिव । 'तेन तुल्यम्—' इति वतिप्रत्ययः । तेनेवार्थो लभ्यते । 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' इत्यव्ययम् । नयसिद्धेर्नयसाध्यफलादपनेतुं पृथक्कर्तुं नार्हति । असमयक्रोधस्यात्मसन्तापातिरिक्तं फलं नास्तीत्यर्थः ॥ ४२ ॥

समय और साहाय्य की अतिक्रमकारिणी और अपने ही इन्द्रियवर्गों की कष्टप्रदायिनी, असहिष्णुता सामान्य व्यक्ति की भाँति तुम्हें न्याय के साध्यफल की सिद्धि से दूर करने में समर्थ नहीं हो सकती ॥ ४२ ॥

'दुष्टः क्रोध' इत्युक्तम् । अत्र क्षमाया गुणानाह—

उपकारकमायतेर्भृशं प्रसवः कर्मफलस्य भूरिणः !
अनपायि निबर्हणं द्विषां न तितिक्षासममस्ति साधनम् ॥ ४३ ॥

उपकारकमिति । आयतेरुत्तरकालस्य भृशमत्यन्तमुपकारकं स्थिरफलहेतुरित्यर्थः । भूरिणः प्रभूतस्य कर्मफलस्य । प्रसूयतेऽनेनेति प्रसवः कारणम् । अपायि न भवतीत्यनपायि स्वयमविनश्यदेव द्विषां निबर्हणं विनाशकमेवंगुणकं साधनं तितिक्षासमं क्षमातुल्यं नास्ति । 'क्षान्तिः क्षमा तितिक्षा च' इत्यमरः । 'तिज निशाने' इति धातोः 'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्' इति क्षमार्थे सन्प्रत्ययः । तितिक्षासममित्यनुक्तोपमेया समास आर्थी लुप्तोपमा, भृशायत्यनपायिशब्दैः साधनान्तरवैलक्षण्याद् व्यतिरेकश्च व्यज्यते। भेदप्राधान्य उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये च व्यतिरेकः ॥ ४३ ॥

भविष्य के लिये अत्यन्त उपकारिका और प्रचुर परिमाण में कर्मफल की जनयित्री शान्ति के सदृश स्वयं अविनाशी और शत्रुओं का विनाशकारी कोई अन्य साधन नहीं है ॥

ननु तितिक्षया कालक्षेपे दुर्योधनः सर्वान्राज्ञो वशीकुर्यादित्यत्राह—

प्रणतिप्रवणान्विहाय नः सहजस्नेहनिबद्धचेतसः ।
प्रणमन्ति सदा सुयोधनं प्रथमे मानभृतां न वृष्णयः ॥ ४४ ॥

प्रणतीति । सहजस्नेहेनाकृत्रिमप्रेम्णा निबद्धचेतसोऽस्मासु गाढं लग्नचित्ताः । सुयोधने तु न तथेति भावः । किं च । मानभृतामहङ्कारिणां प्रथमेऽग्रेसराः । सुयोधनस्तु ततोऽपीति भावः । वृष्णयो यादवाः प्रणतिप्रवणान्प्रणामपरान् । सुयोधनस्तु न तथेति भावः । नोऽस्मान्विहाय सुयोधनं सदा न प्रणमन्ति न नमन्ति नानुसरन्ति । किन्तु कार्यकाले त्यक्ष्यन्त्येवेत्यर्थः। सति यादवविग्रहे न किञ्चिदस्माकमसाध्यं भवेदिति भावः । अनेकपदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ४४ ॥

यदुवंशी लोग अहङ्कारियों में सर्वप्रथम हैं, इनका चित्त हम लोगों के स्वाभाविक प्रेम पाश में उलझा हुआ है, हम लोग उनसे सर्वदा विनम्र रहते हैं। अतः वे हम लोगों के सिवा सुयोधन का अनुसरण सर्वदा नहीं करते रहेंगे। तात्पर्य्य यह कि अहङ्कार में सुयोधन उनसे बढ़कर है। वे लोग जितना हम लोगों से प्रेम करते हैं उतना उससे नहीं, इसलिये वे लोग हमीं लोगों की सहायता करेंगे ॥ ४४ ॥

सुहृदः सहजास्तथेतरे मतमेषां न विलङ्घयन्ति ये।
विनयादिव यापयन्ति ते धृतराष्ट्रात्मजमात्मसिद्धये ॥ ४५ ॥

सुहृद इति। किं चैषां वृष्णीनां ये सहजाः सहजाताः। मातृपितृपक्षा इत्यर्थः। 'अन्येष्वपि दृश्यते' इति डप्रत्ययः। सुहृदो मित्राणि तथेतरे कृत्रिमसुहृदश्च मतं वृष्णिपक्षं न विलङ्घयन्ति नातिक्रामन्ति। ते द्वयेऽपि नृपाः। दुर्योधनोपजीविनोऽपीति भावः। आत्मजीवनार्थं धृतराष्ट्रात्मजं दुर्योधनं विनयादानुकूल्यादिव यापयन्ति कालं गमयन्ति। कार्यकाले तु वृष्णिपक्षप्रवेशिन एवेत्यर्थः। यातेर्ण्यन्ताल्लट्। 'अर्तिह्री—' इत्यादिना पुगागमः ॥ ४५ ॥

तथा और जो इन यदुवंशियों के मित्रवर्ग हैं और जो इनके मातृ–पितृपक्षीय हैं, वे भी इनके मत के विरुद्ध नहीं जा सकते। वे केवल अपने समय को टालने के लिये धृतराष्ट्र के पुत्र सुयोधन के सामने विनम्र की तरह रहते हैं ॥ ४५ ॥

किञ्च नायमभियोगकाल इत्याशयेनाह—

अभियोग इमान्महीभुजो भवता तस्य कृतः कृतावधेः।
प्रविघाटयिता समुत्पतन् हरिदश्वः कमलाकरानिव ॥ ४६ ॥

अभियोग इति। कृतावधेः परिभाषितकालस्य। 'अवधिस्त्ववधाने स्यात्सीम्नि काले बिलेऽपि च' इति विश्वः। तस्य सुयोधनस्य। कर्मणि षष्ठी। भवता कृतः। अवधित प्रागिति शेषः। अभियोगः। आर्द्राभिभव इति यावत्। 'अभियोगस्तु शपथे स्यादार्द्रे च पराभवे' इति विश्वः। इमान्पूर्वोक्तान्महीभुजो राज्ञो हरिदश्व उष्णरश्मिः कमलाकरानिव समुत्पतन्नुद्यन्निव प्रविघाटयिता भेत्स्यति। घाटयतेर्भौवादिकाल्लुट्। चौरादिकस्य तु 'मितां ह्रस्वः' इति ह्रस्वत्वं स्यात् ॥ ४६ ॥

सुयोधन ने जो त्रयोदश वर्ष की अवधि निश्चित की है, उससे पहले यदि आप विग्रह करेंगे तो वह अभियोग यदुवंशियों को इस प्रकार छिन्न भिन्न कर देगा जिस तरह हरे रंग के घोड़े वाले सूर्य्य कमलसमूह की पंखुड़ियों को उद्भिन्न कर देता है ॥ ४६ ॥

अथ न ये वृष्णिपक्षास्तान्प्रत्याह—

उपजापसहान्विलङ्घयन् स विधाता नृपतीन्मदोद्धतः।
सहते न जनोऽप्यधःक्रियां किमु लोकाधिकधाम राजकम् ॥ ४७ ॥

उपजापेति । मदाद्धतः स दुर्योधनो नृपतीनन्यान्नृपान्विलङ्घयन्मदादवमानयन् । सहन्त इति सहाः पचाद्यच् । उपजापस्य सहान्भेदयोग्यान् । 'समौ भेदोपजापौ' इत्यमरः । विधाता विधास्यति । दधातेर्लुट् । अवमानितो जनः सुभेद्य इति भावः । न च ते सहिष्णव इत्याह—जनः प्राकृतोऽप्यधःक्रियामपमानं न लहते । लोकाधिकधाम लोकोत्तरप्रतापं राजकं राजसमूहः । 'गोत्रोक्षोष्ट्र—'इत्यादिना वुञ्प्रत्ययः । किमु । न सहत इति किं वक्तव्यमित्यर्थः । तथा सति कृत्स्नमेव राजमण्डलमस्मानेवावलम्बिष्यत इति भावः ॥ ४७ ॥

अहङ्कार से उद्दण्ड दुर्योधन राजाओं की अवमानना करके भेद योग्य बना देगा । एक साधारण व्यक्ति भी अपना तिरस्कार सहन करने में असमर्थ होता है तो जो लोकोत्तर प्रतापशाली राजन्यवर्ग है, उसकी कथा क्या कहना ? अर्थात् वह अपमान कदापि नहीं सहन कर सकता ॥

ननु 'सखीनिवे'त्यादिवनेचरोक्त्या तस्य मदसंभावनाऽपि कथमित्यत्राह—

असमापितकृत्यसम्पदां हतवेगं विनयेन तावता ।
प्रभवन्त्यभिमानशालिनां मदमुत्तम्भयितुं विभूतयः ॥ ४८ ॥

असमापितेति । असमापितकृत्यसम्पदामकृतकृत्यानामतोऽभिमानशालिनामहङ्कारिणां विभूतयः सम्पद एव तावता स्वल्पेन विनयेन । कार्यवशादारोपितेनेति शेषः । हतवेगं प्रतिबद्धवेगं न तु स्वरूपतो हतं मदमुत्तम्भयितुं वर्धयितुं प्रभवन्ति । सर्वथा दुर्जनसम्पदो विकारयन्तीति भावः ॥ ४८ ॥

कार्य्य को अधूरा छोड़ने वाले अहङ्कारियों की सम्पत्तियाँ कार्य्यवश कृत्रिम विनम्रता से, न्यूनवेग होने वाले अभिमान की वृद्धि करने में सहकारिणी होती हैं अर्थात् वह स्वार्थ-साधन के लिये बगुला भगत बना रहता है और अहङ्कार पर अधिक समय तक आवरण डालने में असमर्थ रहता है, अन्ततो गत्वा उसका अहङ्कार अपना रूप धारण कर ही लेता है ॥

अथ मदस्यानर्थहेतुतां युग्मेनाह—

मदमानसमुद्धतं नृपं न वियुङ्क्ते नियमेन मूढता ।
अतिमूढ उदस्यते नयान्नयहीनादपरज्यते जनः ॥ ४९ ॥

मदेति । मदमानाभ्यां दर्पाहङ्काराभ्यां समुद्धतं नृपं मूढता कार्यापरिज्ञानं नियमेनावश्यं न वियुङ्क्ते न विमुञ्चति । अतिमूढो नयान्नीतिमार्गादुदस्यत उत्क्षिप्यते । कर्मकर्त्तरि लट् । नयहीनाज्जनोऽपरज्यतेऽपरक्तो भवति । 'स्वरितञित—'इत्यादिनाऽऽत्मनेपदम् ॥ ४९ ॥

अज्ञानता गर्व और अहङ्कार के कारण उद्दण्ड नरपति का कभी परित्याग नहीं करती । अत्यन्त अज्ञानी पुरुष नीतिपथ से भ्रष्ट हो जाता है । नीतिपथ से पराङ्मुख होने पर जनता भी उससे अलग हो जाती है ॥ ४९ ॥

अपरागसमीरणेरितः क्रमशीर्णाकुलमूलसन्ततिः ।
सुकरस्तरुवत्सहिष्णुना रिपुरुन्मूलयितुं महानपि ॥ ५० ॥

अपरागेति । अपरागोऽप्रीतिः।द्वेष इति यावत् । समीरण इव । तेनेरितश्चोदितः। अत एव क्रमेण शीर्णा शीर्णीभूताऽऽकुला चला च मूलसन्ततिः प्रकृत्यादिस्वजनवर्गः शिफासङ्घातश्च यस्य स तथोक्तः । 'मूलं वशीकृते स्वीये शिफाताराऽन्तिकादिषु' इति वैजयन्ती । रिपुर्महानपि तरुवद् वृक्ष इव सहिष्णुना क्षमावतोन्मूलयितुमुद्धर्तुं सुकरः सुसाध्यः, सुकरोन्मूलन इत्यर्थः । अत्र मदादेः पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरं प्रति कारणत्वात्कारणमाला, तरुवदित्युपमा चेति द्वयोः संसृष्टिः ॥ ५० ॥

जैसे भीषण आँधी के सञ्चार से कम्पित होने के कारण वृक्ष की जड़ें जर्जरित हो जाती हैं और वे वृक्ष अनायास ही उन्मूलित हो जाते हैं; उसी तरह द्वेष से विचलित महान् शत्रु जिसके अमात्य वर्ग उसके विरुद्ध हो जाते हैं वह बिना परिश्रम के ही क्षमाशील पुरुष के द्वारा पदच्युत किया जा सकता है ॥ ५० ॥

नन्वन्तर्भेदमात्रेण कथं सुसाध्यस्तत्राह—

अणुरप्युपहन्ति विग्रहः प्रभुमन्तःप्रकृतिप्रकोपजः ।
अखिलं हि हिनस्ति भूधरं तरुशाखाऽन्तनिघर्षजोऽनलः ॥ ५१ ॥

अणुरिति । अणुरल्पोऽप्यन्तःप्रकृतिप्रकोपजोऽन्तरङ्गामात्याद्यपरागसमुत्थः। 'प्रकृतिः पञ्चभूतेषु स्वभावे मूलकारणे । छन्दःकारणगुह्येषु जन्त्वमात्यादिकेष्वपि'। इति वैजयन्ती । विग्रहो वैरं प्रभुमुपहन्ति नाशयति । अत्र दृष्टान्तमाह—तरुशाखाऽन्तानां निघर्षो घर्षणं तज्जोऽनलोऽग्निः । भूधरं गिरिमखिलं साकल्येन हिनस्ति हि, दहतीत्यर्थः । अत्रोपमानोपमेयसमानधर्माणां प्रतिबिम्बतया निर्देशेन दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ५१

अन्तरङ्ग अमात्यादिकों के क्रोध से प्रादुर्भूत अल्पमात्र भी विरोध (विग्रह) राजा का नाश कर देता है, जैसे वृक्ष की शाखाओं के परस्पर संघर्ष से उत्पन्न दावानल समस्त पर्वतप्रदेश को भस्म कर डालता है ॥ ५१ ॥

तथाऽपि कथं वर्द्धमानं शत्रुमुपेक्षेतेत्याशङ्क्य दुर्विनीतत्वादित्याह—

मतिमान्विनयप्रमाथिनः समुपेक्षेत समुन्नतिं द्विषः ।
सुजयः खलु तादृगन्तरे विपदन्ता ह्यविनीतसम्पदः ॥ ५२ ॥

मतिमानिति । मतिमान्प्राज्ञः । विनयं प्रमथ्नातीति विनयप्रमाथिनो दुर्विनीतस्य द्विषः समुन्नतिं वृद्धिं समुपेक्षेत । उपेक्षायाः फलमाह—तादृगविनीतोऽन्तरे क्वचिद्रन्ध्रे सुजयः सुखेन जेतुं शक्यः खलु। हि यस्मादविनीतसम्पदो विपदन्ता विपन्मर्यादकाः अनर्थोदर्का इत्यर्थः ॥ ५२ ॥

बुद्धिमान् को चाहिये कि दुर्विनीत शत्रु के अभ्युदय की उपेक्षा कर दे । अतः ऐसे शत्रु किसी न किसी दोष से सुजय होते हैं, क्योंकि दुर्विनीत मनुष्यों की सम्पत्तियों का अवसान विपत्ति में होता है ॥ ५२ ॥

कथं दुर्विनीतस्य शत्रोः सुजयत्वमित्याशङ्क्य भेदजर्जरितत्वादित्याह—

लघुवृत्तितया भिदां गतं बहिरन्तश्च नृपस्य मण्डलम् ।
अभिभूय हरत्यनन्तरः शिथिलं कूलमिवापगारयः ॥ ५३ ॥

लघ्विति । लघुवृत्तितया स्वस्य दुर्वृत्तरूपतया बहिर्मित्रादिजनपदेष्वन्तरमात्यादिषु च भिदां भेदं गतम् । 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' इत्यङ्प्रत्ययः । नृपस्य मण्डलं राष्ट्रमनन्तरः सन्निहितो जिगीषुरापगारयो नदीवेगः शिथिलमन्तर्भेदजर्जरं कूलमिवाभिभूयाक्रम्य हरति ॥ ५३ ॥

जैसे अन्तर्भेद से जर्जरित तट को नदी का प्रवाह नष्ट कर देता है, वैसे ही शत्रु के दुर्व्यवहार से मित्रादि प्रजावर्ग और अन्तरङ्ग मन्त्रिवर्ग भेद को प्राप्त हो जाते हैं । ऐसी परिस्थिति में समीपवर्त्ती राष्ट्र उस पर आक्रमण कर विजयी बन जाता है ॥ ५३ ।

अनुशासतमित्यनाकुलं नयवर्त्माकुलमर्जुनाग्रजम् ।
स्वयमर्थ इवाभिवाञ्छितस्तमभीयाय पराशरात्मजः ॥ ५४ ॥

अन्विति । इतीत्थमाकुलमरिनिकारस्मरणात्क्षुभितमर्जुनाग्रजं भीमसेनं नयवर्त्म नीतिमार्गमनाकुलमसङ्कीर्णं यथा तथाऽनुशासतमुपदिशन्तम् । 'जक्षित्यादयः षट्' इत्यभ्यस्तात्शतुर्नुमभावः । तं युधिष्ठिरं पराशरात्मजो वेदव्यासः स्वयमभिवाञ्छितोऽर्थ इव । साक्षान्मनोरथ इवेत्युत्प्रेक्षा । अभीयाय प्राप्तः ॥ ५४ ॥

शत्रु से किये गये अपकारों का स्मरण कर विक्षोभ को प्राप्त अर्जुन के ज्येष्ठ भ्राता भीमसेन को इस तरह विवेचनापूर्वक नीति मार्ग का उपदेश करते हुये युधिष्ठिर के पास, स्वयं अभिलषित मनोरथ सिद्धि के सदृश पराशरपुत्र श्रीवेदव्यासजी का आगमन हुआ ॥ ५४ ॥

अथ युग्मेनाह—

मधुरैरवशानि लम्भयन्नपि तिर्यञ्चि शमं निरीक्षितैः ।
परितः पटु बिभ्रदेनसां दहनं धाम विलोकनक्षमम् ॥ ५५ ॥
सहसोपगतः सविस्मयं तपसां सूतिरसूतिरापदाम् ।
ददृशे जगतीभुजा मुनिः स वपुष्मानिव पुण्यसञ्चयः ॥ ५६ ॥

मधुरैरिति । मधुरैः शान्तैर्निरीक्षितैरवलोकनैः । नपुंसके भावे क्तः । न विद्यते वशमायत्तत्वं येषां तान्यवशानि प्रतिकूलानि । 'वशमायत्ततायां च' इति विश्वः ।

तिर्यञ्चि मृगपक्ष्यादीनि शमं शान्तिं लम्भयन्प्रापयन् । 'लभेश्च' इति नुमागमः। 'गत्यर्थ—'इत्यादिना द्विकर्मकत्वम् । परितः पटूज्ज्वलमेनसाम् । दह्यतेऽनेनेति दहनं निवर्तकं तथाऽपि विलोकनक्षमं दर्शनीयम् । वह्न्यादिविलक्षणमिति भावः । धाम तेजो बिभ्रत् ॥ ५५ ॥'

सहसेति । पुनः सहसोपगतोऽकस्मादागतस्तपसां सूतिः प्रभव आपदामसूतिरप्रभवः । निवर्तक इति यावत् । स मुनिर्व्यासो वपुष्मान्देहधारी पुण्यसञ्चयः पुण्यराशिरिवेत्युत्प्रेक्षा । जगतीभुजा राज्ञा सविस्मयं ददृशे दृष्टः ॥ ५६ ॥

श्रीवेदव्यासजी सौम्य निरीक्षण से स्वच्छन्द पशु–पक्षियों के हृदय में शान्ति स्थापित करते थे। उनका तेजःपुञ्ज अत्यन्त समुज्ज्वलन्त तथापि अवलोकन योग्य, दुष्कृतों का नाशक था। विपन्निवारक, तपश्चर्या के उत्पादक, अकस्मात् आये हुये वेदव्यास को राजा ने साक्षात् शरीरी सुकृत पुञ्ज की भाँति देखा ॥ ५५–५६ ॥

अथोच्चकैरासनतः परार्ध्यादुद्यन्स धूतारुणवल्कलाग्रः ।
रराज कीर्णाकपिशांशुजालः शृङ्गात्सुमेरोरिव तिग्मरश्मिः ॥ ५७ ॥

अथेति । अथ दर्शनानन्तरम् । उच्चकैरुन्नतात्परार्ध्याच्छ्रेष्ठाद् । 'अर्धाद्यत्' । 'परावराधमोत्तमपूर्वाच्च' इति यत्प्रत्ययः । आसनतः सिंहासनादुद्यन्नुत्तिष्ठन्नत एव धूतानि कम्पितान्यरुणानि वल्कलाग्राणि यस्य स तथोक्तः । स नृपः कीर्णं विस्तृतमाकपिशमंशुजालं यस्य स तथोक्तः । सुमेरोः शृङ्गादुद्यंस्तिग्मरश्मिरिव । रराज ॥ ५७ ॥

दर्शनोत्तर श्रेष्ठ और उन्नत आसन से (स्वागतार्थ) उठते हुये युधिष्ठिर के लाल रंग के भूर्जवस्त्र कम्पित हो रहे थे। उस क्षण उनकी शोभा, कपिश वर्ण की किरणपुञ्ज को फैलाने वाले, सुमेरुशिखर से उदय होते हुये भगवान् भास्कर की सी प्रतीत होती थी ॥ ५७ ॥

अवहितहृदयो विधाय सोऽर्हामृषिवदृषिप्रवरे गुरूपदिष्टाम् ।
तदनुमतमलञ्चकार पश्चात् प्रशम इव श्रुतमासनं नरेन्द्रः ॥ ५८ ॥

अवहितेति । स नरेन्द्रोऽवहितहृदयोऽप्रमत्तचित्तः सन् । ऋषिप्रवरे मुनिश्रेष्ठे ऋषिवदृष्यर्हाम् । अर्हार्थे वतिप्रत्ययः । गुरूपदिष्टाम् । शास्त्रीयामित्यर्थः । अर्हां पूजाम् । 'गुरोश्च हलः' इत्यकारप्रत्ययः । विधाय पश्चादनन्तरं तदनुमतं तेनानुज्ञातमासनम् । प्रशमः शान्तिः श्रुतं शास्त्रश्रवणमिव । अलञ्चकार । उक्तं च—'प्रशमस्तस्य भवत्यलंक्रिया' इति । मुन्याज्ञयोपविष्टवानित्यर्थः ॥ ५८ ॥

युधिष्ठिर महाराज ने, शान्तचित्त होकर, शास्त्रीय विधि के अनुसार, मुनिश्रेष्ठ व्यास

देव की ऋषियों के योग्य पूजा की। पुनः जिस तरह शम, शास्त्र को सुशोभित करता है उसी तरह उन्होंने मुनि की आज्ञा से अपने आसन को सुशोभित किया ॥ ५८ ॥

व्यक्तोदितस्मितमयूखविभासितोष्ठ-
स्तिष्ठन्मुनेरभिमुखं स विकीर्णधाम्नः ।
तन्वन्तमिद्धमभितो गुरुमंशुजालं
लक्ष्मीमुवाह सकलस्य शशाङ्कमूर्त्तेः ॥ ५९ ॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥



व्यक्तेति। व्यक्तोदितैः स्फुटोद्गतैः स्मितमयूखैर्विभासितावोष्ठौ यस्य स तथोक्तः। विकीर्णधाम्नो विस्तीर्णतेजसो मुनेरभिमुखं तिष्ठन् स नृपः। इद्धं दीप्तमंशुजालं तन्वन्तं गुरुं गीष्पतिम्। 'गुरुर्गीष्पतिपित्रादौ' इत्यमरः। 'अभितः परितः—' इत्यादिना द्वितीया। अभितोऽभिमुखम्। तिष्ठत इति शेषः। सकलस्य संपूर्णस्य शशाङ्का मूर्त्तिर्यस्य तस्येन्दोर्लक्ष्मीमुवाह वहति स्म। अत्रोपमेयस्य राज्ञ उपमानेन्दुधर्मेण लक्ष्म्याः साक्षात्सम्बन्धासम्भवात्तत्सदृशीं लक्ष्मीमिवेति प्रतिबिम्बकरणाक्षेपादसम्भवद्वस्तुसम्बन्धात्पदार्थवृत्तिर्निदर्शनालङ्कारः। तदुक्तम्—'प्रतिबिम्बस्याकरणं सम्भवता यत्र वस्तुयोगेन। तत्साम्यमसम्भवता निदर्शना सा द्विधाऽभिमता' ॥ इति ५९ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां
किरातार्जुनीयमहाकाव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां
द्वितीयः सर्गः समाप्तः ॥ २ ॥



मुनि का तेज सर्वत्र फैल रहा था। उनके समीप बैठे हुए युधिष्ठिर, जिनके अधर (ओठ) मन्द हास के समय दशनपंक्तियों से विस्पष्ट परिस्फुरणकारी किरणपुञ्जों से उद्भासित हो रहे थे; चतुर्दिक् अपने प्रभापुञ्ज को बिखेरते हुए बृहस्पति के समीप समागत सम्पूर्ण कला सम्पन्न शशलाञ्छन (चन्द्रमा) की शोभा को प्राप्त हुए ॥ ५९ ॥

इस प्रकार 'प्रकाश' व्याख्या में द्वितीय सर्ग समाप्त हुआ ॥ २ ॥



तृतीयः सर्गः

अथ त्रिभिर्मुनिं विशिंषंश्चतुर्भिः कलापकमाह। तदुक्तं-'द्वाभ्यां युग्ममिति प्रोक्तं त्रिभिः श्लोकैर्विशेषकम्। कलापकं चतुर्भिः स्यात्तदूर्ध्वं कुलकं स्मृतम्' ॥ इति।

ततः शरच्चन्द्रकराभिरामैरुत्सर्पिभिः प्रांशुमिवांशुजालैः
बिभ्राणमानीलरुचं पिशङ्गीर्जटास्तडित्वन्तमिवाम्बुवाहम् ॥ १ ॥

तत इति। तत उपवेशानन्तरं धर्मात्मजो युधिष्ठिरः शरच्चन्द्रकराभिरामैः। आह्लादकैरित्यर्थः। उत्सर्पिभिरूर्ध्वं प्रसारिभिरंशुजालैः प्रांशुमुन्नतमिव स्थितमित्युत्प्रेक्षा। पुनरानीलरुचं कृष्णवर्णं पिशङ्गीः पिङ्गलवर्णाः। गौरादित्वान्ङीप्। जटा बिभ्राणं धारयन्तमत एव तडित्वन्तं विद्युद्युक्तमम्बुवाहमिव स्थितमित्युत्प्रेक्षा ॥१॥

व्यासजी आसनासीन होने पर (बैठ जाने पर) शरद् ऋतु के चन्द्रमा की किरणों के समान मनोहर, ऊर्ध्वप्रसरणकारी तेजःसमूह से उन्नत (डील डौल में बड़े) मालूम पड़ते थे। उनके शरीर का रङ्ग हल्का नीला था। उनके शिर पर पीले वर्ण की जटा थी। अतः वे बिजली से युक्त मेघ के समान दिखलाई पड़ते थे ॥ १ ॥

प्रसादलक्ष्मीं दधतं समग्रां वपुःप्रकर्षेण जनातिगेन।
प्रसह्य चेतःसु समासजन्तमसंस्तुतानामपि भावमार्द्रम् ॥ २ ॥

प्रसादेति। पुनः समग्रां सम्पूर्णां प्रसादः सौम्यता तस्य लक्ष्मीं संपदं दधतम्। अत एव जनमतिगच्छतीति जनातिगेन लोकातिशायिना। 'अन्येष्वपि दृश्यते' इति डप्रत्ययः। वपुःप्रकर्षेणाकारसम्पदाऽसंस्तुतानामपरिचितानामपि। व्यासोऽयमित्यजानतामपीत्यर्थः। 'संस्तवः स्यात्परिचयः' इत्यमरः। चेतःसु चित्तेष्वार्द्रंभावमभिप्रायं प्रसह्य बलात्समासजन्तम्। लगयन्तमिति यावत्। 'दंशसञ्जस्वञ्जां शपि' इत्युपधाया लोपः। प्रसन्नाकारेषु सर्वोऽपि स्निह्यतीति भावः ॥ २ ॥

उनमें प्रसन्नता की सम्पूर्ण सामग्रियाँ पाई जाती थीं। शरीर की स्थूलता में सबसे बढ़े-चढ़े थे। जिसके कारण अपरचित लोगों के हृदय में भी अपने विषय में श्रद्धा और भक्ति का भाव स्थापित करा देते थे ॥ २ ॥

अनुद्धताकारतया विविक्तां तन्वन्तमन्तःकरणस्य वृत्तिम्।
माधुर्यविस्रम्भविशेषभाजा कृतोपसंभाषमिवेक्षितेन ॥ ३ ॥

अनुद्धतेति। पुनरनुद्धताकारतया शान्ताकारत्वेन लिङ्गेनान्तःकरणस्य वृत्तिं विविक्तां पूताम्। शान्तामिति यावत्। 'विविक्तौ पूतविजनौ' इत्यमरः। तन्वन्तं प्रकटयन्तम्। आकृतिरेवास्य चित्तशुद्धिं कथयतीत्यर्थः। पुनर्माधुर्यं निसर्गसौम्यता

विस्रम्भो विश्वासः । 'समौ विस्रम्भविश्वासौ' इत्यमरः । तयोर्विशेषमतिशयं भजतीति तथोक्तेनेक्षितेन दर्शनेनैव कृतोपसंभाषा संभाषणं येन तमिवेत्युत्प्रेक्षा । दृष्टिविशेषेणैवोपसंभाषमाणमिव स्थितमित्यर्थः। काशिकायां तु 'उपसम्भाषणमुपसान्त्वनम्' इति भासनादिसूत्रे ॥ ३ ॥

उनका आकार शान्त था, जिससे उनके अन्तःकरण की सौम्यता के भाव स्पष्ट झलक रहे थे । सौम्यता और विश्वास पूर्ण अवलोकन से प्रतीत होता था कि इनसे कभी सम्भाषण हो चुका है ॥ ३ ॥

धर्मात्मजो धर्मनिबन्धिनीनां प्रसूतिमेनःप्रणुदां श्रुतीनाम् ।
हेतुं तदभ्यागमने परीप्सुः सुखोपविष्टं मुनिमाबभाषे ॥ ४ ॥

धर्मेति । पुनर्धर्मं निबध्नन्तीति धर्मनिबन्धिनीनामग्निहोत्रादिधर्मप्रतिपादिकानाम् । एनःप्रणुदामघच्छिदाम् । क्विप् । श्रुतीनां वेदानाम् । 'श्रुतिः स्त्री वेद आम्नायः' इत्यमरः । प्रसूतिं प्रभवं सुखेनोपविष्टं मुनिं तदभ्यागमने तस्य मुनेरागमने हेतुं परीप्सुर्जिज्ञासुः । आप्नोतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । 'आप्ज्ञप्यृधामीत्' इतीकारः । 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' इत्यभ्यासलोपः । आबभाषे उवाच ॥ ४ ॥

अग्निहोत्रप्रभृति जो धार्मिक कृत्य हैं उनके प्रतिपादक और दुष्कृतों के विनाशक शास्त्रों के निर्माणकर्ता (रचयिता) थे । ऐसे मुनि के आगमन का कारण जानने की इच्छा से धर्मपुत्र (युधिष्ठिर) ने मुनि से कहा ॥ ४ ॥

अनाप्तपुण्योपचयैर्दुरापा फलस्य निर्धूतरजाः सवित्री ।
तुल्या भवद्दर्शनसंपदेषा वृष्टेर्दिवो वीतबलाहकायाः ॥ ५ ॥

अनाप्तेति । अनाप्तपुण्योपचयैरकृतपुण्यसंग्रहैर्दुरापा दुर्लभा फलस्य सवित्री श्रेयस्करी निर्धूतरजा हतरजोगुणा, अन्यत्र निरस्तधूलिः । 'रजो रजोगुणे धूलौ परागार्तवयोरपि' इति शाश्वतः।एषा भवद्दर्शनसंपत्संपत्तिः । लाभ इति यावत् । संपदादिभ्यः क्विपो भावार्थत्वात् । वीतबलाहकाया गतमेघाया दिव आकाशस्य संबन्धिन्या वृष्टेस्तुल्येत्युपमाऽलंकारः । अनभ्रवृष्टिवदतर्कितोपनतं भवद्दर्शनं सर्वथा कस्यचिच्छ्रेयसो निदानमित्यर्थः । वारि वहतीति बलाहकः । पृषोदरादित्वात्साधुः ॥ ५ ॥

आपकी यह दर्शन-सम्पत्ति, बिना पुण्य सञ्चय किये पुरुषों के लिये दुष्प्राप्य है, यह रजोगुण से रहित है, और अभिलाषाओं को सफल बनाने में समर्थ है । यह मेघ-निर्मुक्त आकाश की वर्षा के सदृश है । मुझ—जैसे व्यक्ति के लिये आपका दर्शन असम्भावित था ॥ ५ ॥

अद्य क्रियाः कामदुघाः क्रतूनां सत्याशिषः संप्रति भूमिदेवाः ।
आ संसृतेरस्मि जगत्सु जातस्त्वय्यागते यद्बहुमानपात्रम् ॥ ६ ।

अथेति । अद्य क्रतूनां क्रिया अनुष्ठानानि कामान् दुहन्तीति कामदुघाः । फलदा इत्यर्थः । 'दुहः कब्घश्च' इति कप्प्रत्ययो घादेशश्च । संप्रत्यद्य भूमिदेवा ब्राह्मणाः । 'द्विजात्यग्रजन्मभूदेववाडवाः विप्रश्च ब्राह्मणः' इत्यमरः । सत्याशिषो जाताः । ब्राह्मणाशिषोऽद्य फलिता इत्यर्थः । यद्यतः कारणात्त्वय्यागते सति । त्वदागमनेन निमित्तेनेत्यर्थः । अस्मीत्यहमर्थेऽव्ययम् । 'अस्मीत्यस्मदर्थानुवादेऽहमर्थेऽपि' इति प्रयोगाच्च । आ संसृतेरा संसारात् । यावत्संसारमित्यर्थः । अभिविधावाङ्विकल्पाद्‌समासः । जगत्सु बहुमानपात्रं बहुयोग्यताभाजनम् । जातः । सकलसत्कर्मफलभूतं त्वदागमनं येन मे जगन्मान्यतेति भावः ॥ ६ ॥

आज आप के शुभागमन से मेरे किये हुये यज्ञानुष्ठान सम्पूर्ण कामनाओं के पूरक हुये । इस समय ब्राह्मणों का आशीर्वाद सत्य हो गया । जब से सृष्टि की रचना हुई है तब से मैं ही आज इस संसार में सबसे अधिक सम्मान का पात्र हुआ ॥ ६ ॥

श्रियं विकर्षत्यपहन्त्यघानि श्रेयः परिस्नौति तनोति कीर्तिम् ।
संदर्शनं लोकगुरोरमोघं तवात्मयोनेरिव किं न धत्ते ॥ ७ ॥

श्रियमिति । आत्मयोनेर्ब्रह्मण इव लोकगुरोस्तवामोघमविफलं संदर्शनं श्रियं विकर्षत्याकर्षति । अघानि दुःखान्यपहन्ति । 'अंहोदुःखव्यसनेष्वघम्' इत्यमरः श्रेयः पुरुषार्थं परिस्नौति स्रवति । कीर्तिं च तनोति किं बहुना किं न धत्ते किं न करोति । सर्वं करोतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

जगत्पूज्य, आप का दर्शन, स्वयम्भू (ब्रह्मा) के समान विफल नहीं हो सकता, वह श्री की वृद्धि करता है; पापों को निर्मूल करता है; कल्याण की वर्षा करता है और कीर्ति का विस्तार करता है ॥ ७ ॥

श्च्योतन्मयूखेऽपि हिमद्युतौ मे ननिर्वृतं निर्वृतिमेति चक्षुः ।
समुज्झितज्ञातिवियोगखेदं त्वत्सन्निधावुच्छ्वसितीव चेतः ॥ ८ ॥

श्च्योतदिति । हे भगवन् ! श्च्योतन्मयूखे सुधास्राविकरे हिमद्युताविन्दावपि विषये ननिर्वृतम् । नञर्थस्य नशब्दस्य सुप्सुपेति समासः । मे चक्षुस्त्वत्सन्निधौ निर्वृतिं सुखमेति । तथा चेतश्च समुज्झितज्ञातिवियोगखेदं त्यक्तबन्धुविरहदुःखं समुच्छ्वसितीवानुपरोधेन प्राणितीवेत्युत्प्रेक्षा । पूर्वार्द्धे तु निर्वृतिकारणे सत्यपीन्दावनिर्वृतिकथनाद्विशेषोक्तिः । तदुक्तं—'तत्सामग्र्यामनिर्वृतिर्विशेषोक्तिर्निगद्यते' इति ॥ ८ ॥

अमृतमयी किरणों के परिस्रवणकारी और शीतल ज्योतिःसम्पन्न चन्द्रमा के दर्शन से मेरे नेत्र (तृप्त) नहीं होते थे, वे (आज) आप के दर्शन से तृप्त हो गये । इस समय बान्धवों के वियोगजनित दुःख का परित्याग कर मेरा हृदय पुनः जीवित हो उठा है ॥ ८ ॥

निरास्पदं प्रश्नकुतूहलित्वमस्मास्वधीनं किमु निःस्पृहाणाम्।
तथापि कल्याणकरीं गिरं ते मां श्रोतुमिच्छा मुखरीकरोति॥ ९॥

निरास्पदमिति। प्रश्नकुतूहलित्वं निरास्पदम्। त्वदागमनप्रयोजनप्रश्नो निरास्पद इत्यर्थः। 'आस्पदं प्रतिष्ठायाम्' इति निपातः। प्रश्नानवकाशे हेतुमाह— निःस्पृहाणाम्। युष्मादृशामित्यर्थः। अस्मास्वधीनमायत्तं किमु। न किञ्चिदस्मत्तो लभ्यमित्यर्थः। आधारत्वविवक्षायां सप्तमी। तथाऽपि कल्याणकरीम्। अस्मद्धितैकहेतुमित्यर्थः। निःस्पृहवृत्तेः पारार्थ्यादिति भावः। 'कृञो हेतु-' इति टप्रत्यये ङीप्। अतस्ते गिरं श्रोतुमिच्छा माम्। मुखं वागस्यास्तीति मुखरो निरन्तरभाषी। 'रप्रकरणे खमुखकुञ्जेभ्य उपसंख्यानम्' इति रः। 'दुर्मुखे मुखराबद्धमुखौ' इत्यमरः। ततश्च्विप्रत्ययः। मुखरीकरोति। व्याहारयतीत्यर्थः। निःस्पृहस्यापि ते वाक्यमस्मद्धितकरत्वाच्छ्रोतव्यमिति भावः॥ ९॥

आप के आगमन के प्रयोजन की वार्ता सर्वथा निर्मूल है, क्योंकि जिन्हें किसी तरह की इच्छा नहीं है उनका हम लोगों के साथ प्रयोजन ही क्या हो सकता है?। यह होते हुए भी आप के आगमनप्रयोजन की वार्ता जानने के लिए मेरी इच्छा मुझे प्रेरित करती है॥९॥

इत्युक्तवानुक्तिविशेषरम्यं मनः समाधाय जयोपपत्तौ।
उदारचेता गिरमित्युदारां द्वैपायनेनाभिदधे नरेन्द्रः॥ १०॥

इतीति। इतीत्थमुक्तिविशेषरम्यमुक्तिवैचित्र्यचारु यथा तथोक्तवान्। उदारचेता महामना नरेन्द्रो द्वैपायनेन व्यासेन। द्वीपमयनं स्थानं जन्मभूमिर्यस्य स द्वीपायनः स एव द्वैपायनस्तेन। 'प्रज्ञादिभ्यश्च' इति स्वार्थेऽण्प्रत्ययः। नापत्यार्थे। 'नडादिभ्यः फक्'। तेष्वेव पाठाद्बाधितार्थत्वाच्च। जयोपपत्तौ मनः समाधाय। जयसिद्धिमपेक्ष्येत्यर्थः। इति वक्ष्यमाणप्रकारामुदारामर्थवतीं गिरमभिदध उक्तः। दुहादित्वादप्रधाने कर्मणि लिट्। 'प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम्। अप्रधाने दुहादीनां ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मणः'॥ इति वचनात्॥ १०॥

उदार अभिप्राय वाले युधिष्ठिर ने पूर्वोक्त प्रकार की उक्ति के वैचित्र्य से सुन्दर वचन कहे। फिर उनके विजय लाभ का ध्यान रखते हुये व्यासजी ने उदार वचनों में महाराज से कहा॥ १०॥

आदौ तावत्तस्य माध्यस्थ्यभङ्गदोषं युग्मेन परिहरति—

चिचीषतां जन्मवतामलघ्वीं यशोऽवतंसामुभयत्र भूतिम्।
अभ्यर्हिता बन्धुषु तुल्यरूपा वृत्तिर्विशेषेण तपोधनानाम्॥ ११॥

चिचीषतामिति। अलघ्वीं गुर्वीम्। 'वोतो गुणवचनात्' इति ङीष्। यशो-

ऽवतंसां कीर्तिभूषणाम् । समयन्निह चामुत्र च भूतिं श्रेयश्चिचीषतां चेतुं संग्रहीतुमिच्छताम्, चिनोतेः सन्नन्ताच्छप्रत्ययः । जन्मवतां शरीरिणां बन्धुषु विषये तुल्यरूपैकविधा वृत्तिर्व्यवहारोऽभ्यर्हितोचिता । तपोधनानां त्वस्मत्सदृशां विशेषेण नियमेनाभ्यर्हिता ॥ ११ ॥

इस लोक तथा परलोक में कीर्ति और शोभा से युक्त महान् ऐश्वर्य की कामना करने वाले शरीरधारियों के लिये कुटुम्बियों के समक्ष समान व्यवहार करना उचित है, तथा तपस्वियों के लिये तो विशेष प्रकार से समान व्यवहार करना उचित है ॥ ११ ॥

तथापि निघ्नं नृप ! तावकीनैः प्रह्वीकृतं मे हृदयं गुणौघैः ।
वीतस्पृहाणामपि मुक्तिभाजां भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाताः ॥ १२ ॥

तथापीति । तथापि तुल्यवृत्त्यौचित्येऽपि । हे नृप ! तावकीनैस्त्वदीयैः । 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ्च' इति खञ्प्रत्ययः । 'तवकममकावेकवचने' इति तवकादेशः । गुणौघैः प्रह्वीकृतमावर्जितं मे हृदयं निघ्नं त्वदायत्तम् । 'अधीनो निघ्न आयत्तः' इत्यमरः । ननु निःस्पृहस्य कोऽयं पक्षपात इत्यत्राह—वीतेति । वीतस्पृहाणां विरक्तानां मुक्तिभाजाम् । मुमुक्षूणामपीत्यर्थः । भवन्तीति भव्याः साधवः । 'भव्य गेय—' इत्यादिना कर्त्तरि निपातः । तेषु पक्षपाताः स्नेहा भवन्ति । न तु साध्वनुग्रहो महतां माध्यस्थ्यभञ्जक इति भावः ॥ १२ ॥

यद्यपि हमें दोनों को समान दृष्टि से देखना चाहिए तो भी हे राजन् ! आप के गुण राशि से आकृष्ट होकर मेरा हृदय आप के वश में हो गया है। कामनारहित, मुक्ति के चाहने वाले महात्माओं का भी सज्जनों के प्रति पक्षपात हो ही जाता है ॥ १२ ॥

अथ नृपस्य गुणवत्तां प्रकटयितुं धृतराष्ट्रस्य दुश्चेष्टामुद्घाटयति—

सुता न यूयं किमु तस्य राज्ञः सुयोधनं वा न गुणैरतीताः ।
यस्त्यक्तवान्वः स वृथा बलाद्वा मोहं विधत्ते विषयाभिलाषः ॥ १३ ॥

सुता इति । यूयं तस्य राज्ञो धृतराष्ट्रस्य सुताः पुत्रा न किमु । अपि तु सुता एवेत्यर्थः । गुणैः शान्तिदानदाक्षिण्यादिभिः । सुयोधनं नातीता नातिक्रान्ता वा । अतीता एवेत्यर्थः । कर्त्तरि क्तः । असुतत्वमगुणत्वं च त्यागे हेतुः । युष्मासु तन्नास्तीत्यर्थः । उपालम्भे कारणमाह—य इति । यो धृतराष्ट्रो वो युष्मान् वृथा निष्कारणमेव त्यक्तवान् । यदि वयं सुता गुणाधिकाश्च तर्हि कथमस्याग्रहस्तत्राह—बलादिति । स विषयाभिलाषो भोगतृष्णा बलाद्वा बलादिव । 'वा स्याद्विकल्पोपमयोरेवार्थेऽपि समुच्चये' इति विश्वः । मोहमविवेकं विधत्ते । विषयाभिलाषातिरिक्तो न कश्चिद्युष्मत्त्यागहेतुरस्तीत्यर्थः । अत्र कार्यकारणसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ १३ ॥

क्या आप लोग उस धृतराष्ट्र के पुत्रों में से नहीं है? अथवा आप लोगों ने गुणों से दुर्योधन को नहीं जीता है क्या? जिसने आप लोगों को व्यर्थ निर्वासित किया है, वे विषयेच्छुक धृतराष्ट्र हठपूर्वक अविवेकी बने हुये हैं॥ १३॥

अथ राज्ञ उत्साहवर्द्धनाय शत्रोर्हानिं सूचयति—

जहातु नैनं कथमर्थसिद्धिः संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते यः।
असाधुयोगा हि जयान्तरायाः प्रमाथिनीनां विपदां पदानि॥ १४॥

जहात्विति। एनं धृतराष्ट्रमर्थसिद्धिः कथं न जहातु। जहात्वेवेत्यर्थः। 'प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च' इति प्राप्तकाले लोट्। तस्य हानिकालः प्राप्त इत्यर्थः। कुतः। यो धृतराष्ट्रः संशय्य संदिह्य कर्णादिषु तिष्ठते। कर्णादीन्दुर्मन्त्रिणः सन्दिग्धार्थे निर्णेतृत्वेनावलम्बत इत्यर्थः। 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' इति स्थेयाख्यायामात्मनेपदम्। तिष्ठतेऽस्मिन्निति स्थेयो विवादपदनिर्णेता। तथा हि। असाधुयोगा दुर्जनसंसर्गा जयान्तराया जयविघातकाः। किञ्च प्रमाथिनीनामुन्मूलनशीलानां विपदां पदानि स्थानानि। 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः। न केवलं जयघातिनः किंत्वनर्थकारिणश्चेत्यर्थः। धृतराष्ट्रोऽपि दुर्जनविधेयत्वाद्विनङ्क्ष्यतीति भावः॥ १४॥

अर्थ सिद्धि (प्रयोजन सिद्धि) इस धृतराष्ट्र से, जो सन्देह-ग्रस्त विषयों का निर्णय करने के लिये कर्ण प्रभृति दुर्मन्त्रियों का आश्रय लेता है, क्यों नहीं अलग हो जाती? क्योंकि दुष्टों का संपर्क विजय में बाधक होता है और सर्वनाशक विपत्तियों का स्थान होता है॥ १४॥

एवं शत्रोरनर्थं सूचयित्वा राज्ञोऽर्थसिद्धिं सूचयति—

पथश्च्युतायां समितौ रिपूणां धर्म्यां दधानेन धुरं चिराय।
त्वया विपत्स्वप्यविपत्तिरम्यमाविष्कृतं प्रेम परं गुणेषु॥ १५॥

पथ इति। रिपूणां समितौ सभायाम्। 'सभासमितिसंसदः' इत्यमरः। पथश्च्युतायां मार्गाद् भ्रष्टायाम्। दुरात्मनो दुःशासनस्य स्त्रीग्रहणसाहसमङ्गीकृतवत्यामित्यर्थः। चिराय धर्म्यां धर्मादनपेताम्। 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' इति यत्प्रत्ययः। धुरं भारं दधानेन। कृच्छ्रेष्वपि धर्मादचलतेत्यर्थः। त्वया विपत्स्वपि, अविपत्त्यविनाश्यत एव रम्यं गुणेषु शान्त्यादिषु विषये परमुत्कृष्टम् प्रेमाविष्कृतम् प्रकटीकृतम्। दुःसहमपि सोढवता त्वया साधु कृतमिति भावः॥ १५॥

जब आप के शत्रुओं की सभा पथभ्रष्ट हो चुकी (जिसके फलस्वरूप दुःशासन ने द्रौपदी के वस्त्रापहरण की चेष्टा की) थी, उस समय भी आप लोग बहुत कालतक धर्मपूर्वक

कार्य्यभार वहन करते रहे । आप ने विपत्ति के समय भी गुणों के प्रति स्थायी एवं प्रशंसनीय प्रेम प्रदर्शन किया है ॥ १५ ॥

विधाय विध्वंसमनात्मनीनं शमैकवृत्तेर्भवतश्छलेन ।
प्रकाशितत्वन्मतिशीलसाराः कृतोपकारा इव विद्विषस्ते ॥ १६ ॥

विधायेति । किं च शम एवैका मुख्या वृत्तिर्यस्य तस्यापरोपतापिनो भवतश्छलेन कपटेन । आत्मने हितं आत्मनीनः । स न भवतीत्यनात्मनीनः । स्वस्यैवानर्थहेतुरित्यर्थः । तम् । 'आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात्खः' इति खप्रत्ययः । विध्वंसमपकारं विधाय कृत्वा । प्रकाशितः प्रख्यापितस्त्वन्मतिशीलयोस्तव प्रज्ञासद्वृत्तयोः सारः प्रकर्षो यैस्ते तथोक्ताः । ते तव विद्विषः कृतोपकारा इवोपकृतवन्त इव । अपकारोऽप्युपकारायैव संवृत्तः । यदेषां दौर्जन्यं युष्मत्सौजन्यं च जगति सुव्यक्तमासीदित्यर्थः । विद्यमानस्यापि सुजनस्य चन्दनदारुण इव गुणाः परिभव एव प्रचुरीभवन्तीति भावः ॥ १६ ॥

आप के शत्रुओं ने, शान्ति के उपासक आपका अपकार, जो उनके स्वयं अनर्थ का कारण है, करके आपकी बुद्धि और शील का प्रकर्ष दिखलाते हुये मानो आपका उपकार ही किया है, क्योंकि उन लोगों के किये हुये दुर्व्यवहार से उनके और आपके गुणों का यथार्थ परिचय मिल गया है ॥ १६ ॥

अथ प्रयोजनान्तरमाह—

लभ्या धरित्री तव विक्रमेण ज्यायांश्च वीर्यास्त्रबलैर्विपक्षः ।
अतः प्रकर्षाय विधिर्विधेयः प्रकर्षतन्त्रा हि रणे जयश्रीः ॥ १७ ॥

लभ्येति । तव । त्वयेत्यर्थः । 'कृत्यानां कर्त्तरि वा' इति षष्ठी । धरित्री विक्रमेण लभ्या प्राप्तव्या । न च सुलभ्या तं विनेत्याह—विपक्षश्च शत्रुरपि । वीर्यं शौर्यं मस्त्राण्याग्नेयादीनि बलानि सैन्यानि तैर्ज्यायान्प्रशस्यतरः । अधिकतर इति यावत् । ज्येष्ठस्य 'ज्यादादीयसः' इति ज्यादेशः । अतः प्रकर्षायाधिक्याय विधिरुपायो विधेयः कर्त्तव्यः । कुतः । हि यस्माद्रणे जयश्रीः प्रकर्षतन्त्रा प्रकर्षप्रधाना । प्रकर्षायत्तेत्यर्थः । 'तन्त्रं प्रधाने सिद्धान्ते' इत्यमरः । बलिन एव जयः, न तु दुर्बलस्येति भावः ॥ १७ ॥

पराक्रम का आश्रय लेकर ही आप को पृथ्वी पर अधिकार प्राप्त करना होगा । आपका शत्रु बल और शस्त्र में आपसे बढ़ा चढ़ा है । अतः शत्रु से बढ़ने के लिये उपाय करना होगा, क्योंकि युद्धक्षेत्र में विजयलक्ष्मी प्रकर्षाधीन रहती है ॥ १७ ॥

अथ 'त्रिः—' इत्यादिना श्लोकचतुष्टयेन विपक्षज्यायस्त्वं वर्णयति—

त्रिःसप्तकृत्वो जगतीपतीनां हन्ता गुरुर्यस्य स जामदग्न्यः ।
वीर्यावधूतः स्म तदा विवेद प्रकर्षमाधारवशं गुणानाम् ॥ १८ ॥

त्रिःसप्तेति । त्रिरावृत्तान्सप्तवारांस्त्रिःसप्तकृत्वः । एकविंशतिकृत्व इत्यर्थः । त्रिः-सप्तशब्दयोः 'सुप्सुपे'ति समासः । 'संख्यायाः क्रियाऽभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्' इति कृत्वसुच्प्रत्ययः। जगतीपतीनां महीपतीनां हन्ता नाशको गुरुरस्त्रवेदोपदेष्टा । सः प्रसिद्ध इत्यर्थः । अत एव यच्छब्दानपेक्षत्वम् । तदुक्तं काव्यप्रकाशे—'प्रक्रान्तप्रसिद्धानुभूतार्थविषयस्तच्छब्दो यच्छब्दोपादानं नापेक्षते' इति । जमदग्नेरपत्यं पुमान् जामदग्न्यः । 'गर्गादिभ्यो यञ्' इति यञ्प्रत्ययः । यस्य भीष्मस्य वीर्यावधूतो विक्रमाभिभूतः । अम्बिकास्वयंवर इत्यर्थः । तदा भङ्गप्राप्तिसमये गुणानां शौर्यादीनां प्रकर्षमतिशयमाधारवशमाश्रयाधीनं विवेद जज्ञे । स्म । स्वविद्यायाः स्वशिष्ये भीष्मे स्वस्मादपि प्रकर्षाधानदर्शनादिति भावः । स्म पादपूरणे भूतेऽर्थे च' इति विश्वः ॥

परशुराम जमदग्नि ऋषि के पुत्र थे, उन्होंने इक्कीस बार राजाओं का वध कर डाला था तथा शस्त्रविद्या के वे आचार्य थे। वे भी अपने शिष्य भीष्म से पराजित हो गये (हार गये) तब उन्होंने समझा कि जैसा पात्र होगा वैसा ही गुणों का प्रकर्ष होगा ॥१८॥

यस्मिन्ननैश्वर्यकृतव्यलीकः पराभवं प्राप्त इवान्तकोऽपि ।
धुन्वन्धनुः कस्य रणे न कुर्यान्मनो भयैकप्रवणं स भीष्मः ॥ १९ ॥

यस्मिन्निति । यस्मिन्भीष्मे विषये अनीश्वरस्य भावोऽनैश्वर्यमसामर्थ्यम् । 'नञः शुचीश्वरक्षेत्रज्ञकुशलनिपुणानाम्' इति विकल्पान्नञः पूर्वपदवृद्ध्यभावः । तेन कृतव्यलीको जनितवैलक्ष्यः । दुःखे वैलक्ष्ये व्यलीकम्' इति यादवः । अन्तकोऽपि यमोऽपि पराभवं प्राप्त इव । भीष्मस्येच्छामरणत्वादन्तकोऽपि पराजित इवास्ते, किमुतान्य इति भावः स भीष्मो रणे धनुर्धुन्वन्कम्पयन्कस्य मनो भयैकप्रवणं भय एकप्रवणमेकोन्मुखम् । शिवभागवतवत्समासः । न कुर्यात् । सर्वस्यापि मनसि भयं कुर्यादेवेत्यर्थः ॥ १९ ॥

जिन भीष्मपितामह के विषय में यमराज भी असामर्थ्य से दुखी होकर पराजित सा हो गया, वही भीष्म युद्धस्थल में धनुष्प्रकम्पन करते हुए किस के मन में भय उत्पन्न नहीं करेंगे अर्थात् सभी लोग भय से व्याप्त हो जायेंगे अर्थात् भीष्म ऐसे वीर सुयोधन के सहायक हैं, इसलिये वह आपसे बल में बढ़ कर है ॥ १९ ॥

सृजन्तमाजाविषुसंहतीर्वः सहेत कोपज्वलितं गुरुं कः ।
परिस्फुरल्लोलशिखाऽग्रजिह्वं जगज्जिघत्सन्तमिवान्तवह्निम् ॥ २० ॥

सृजन्तमिति । आजौ रण इषुसंहतीर्बाणसङ्घान् सृजन्तं वर्षन्तं कोपज्वलितमत एव परिस्फुरन्त्यो लोलाश्च शिखाग्राण्येव जिह्वा यस्य तं तथोक्तम् । जगल्लोकं जिघ्रसन्तमत्तुमिच्छन्तम् । अदेः सन्नन्ताच्छतृप्रत्ययः । 'लुङ्सनोर्घस्लृ' इति घस्लादेशः । । अन्तवह्निं कालाग्निमिव स्थितं गुरुं द्रोणं वो युष्माकं मध्ये कः सहेत सोढुं शक्नुयात् । न कोऽपीत्यर्थः । 'शकि लिङ् च' इति शक्यार्थे लिङ् ॥ २० ॥

जिस तरह प्रलयाग्नि अपने प्रचण्ड ज्वाला से संसार को जलाने के लिये उत्पन्न होता है, उस समय उसकी ज्वाला में सब लोग आहुति बन जाते हैं; ठीक उसी तरह द्रोणाचार्य लड़ाई के मैदान में बाणों की वर्षा करते हुए क्रोध में आकर सम्मुख उपस्थित हो जायें उस समय आप लोगों में से कौन व्यक्ति उनका सामना कर सकता है ? ॥ २० ।'

निरीक्ष्य संरम्भनिरस्तधैर्यं राधेयमाराधितजामदग्न्यम् ।
असंस्तुतेषु प्रसभं भयेषु जायेत मृत्योरपि पक्षपातः ॥ २१ ॥

निरीक्ष्येति । संरम्भेण कोपेन निरस्तं त्याजितं धैर्यं निर्विकारचित्तत्वं येन तथोक्तम् । आटोपेनैव परधैर्यापहारिणमित्यर्थः । आराधितजामदग्न्यं शुश्रूषितभार्गवम् । जामदग्न्यादधिगतास्त्ररहस्यमित्यर्थः । राधेयं राधासुतं कर्णम् । 'स्त्रीभ्यो ढक्' । निरीक्ष्य मृत्योरप्यसंस्तुतेष्वपरिचितेषु । 'संस्तवः स्यात्परिचयः' इत्यमरः । भयेषु प्रसभं पक्षपातः परिचयो जायेत । मृत्युरप्यस्माद्बिभीयात्किमुतान्य इति भावः । संभावनायां लिङ् । अत्र जनिक्रियाऽपेक्षया समानकर्तृकत्वाभावेऽपि पक्षपातक्रियाऽपेक्षया तत्सम्भवान्निरीक्ष्येति ल्यबिनिर्देशः समर्थनीयः । 'प्रधानोपसर्जनभावस्त्वप्रयोजकः' इति व्यक्तिविवेककारः । अत्र भयसम्बन्धरहितस्य मृत्योर्भयसम्बन्धाभिधानादसम्बन्धे सम्बन्धरूपाऽतिशयोक्तिरलङ्कारः ॥ २१ ॥

जिस अधिरथ पुत्र कर्ण के कोपमात्र से धैर्य्य का भी धैर्य्य छूट जाता है । जिन्होंने जमदग्निकुमार परशुराम की अच्छी तरह शुश्रूषा की है अर्थात् उनकी सेवा करके सरहस्य शस्त्रों को पाया है, ऐसे कर्ण को देखकर मृत्यु को ऐसा भय आ दबोचता है जिसका स्वरूप उनको स्वप्न में दिखलाई न पड़ा होगा ॥ २१ ॥

अथानन्तरं करणीयमागमनप्रयोजनं च युग्मेनाह—

यया समासादितसाधनेन सुदुश्चरामाचरता तपस्याम् ।
एते दुरापं समवाप्य वीर्यमुन्मूलितारः कपिकेतनेन ॥ २२ ॥

ययेति । यया विद्यया करणेन सुदुश्चरामतिदुष्करां तपस्यां तपश्चर्यां 'कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्त्तिचरोः' इति क्यङ् । 'अप्रत्ययात्' इति स्त्रियामप्रत्ययः । आचरता । पाशुपतिं प्रति तपः कुर्वतेत्यर्थः । अत एव समासादितं प्राप्तं साधनं पाशु

तास्त्ररूपं येन तेन। कपिर्हनुमान्केतनं चिह्नं यस्य तेन। अर्जुनेनेत्यर्थः। दुरापमन्यस्य दुर्लभं वीर्यं तेजः समवाप्य। एते पूर्वोक्ता भीष्मादय उन्मूलितार उन्मूलयिष्यन्ते। उन्मूलयतेर्ण्यन्तात्कर्मणि लुट्। अत्र चिण्वदिडागमेऽपि तस्य 'असिद्धवदत्राभात्' इत्यसिद्धत्वाद् 'णेरनिटि' इति णिलोपः। तन्निमित्तस्यैव 'अनिटि' इति निषेधात्। उक्तं च—'चिण्वद् वृद्धिर्युक्च हन्तेश्च घत्वं,दीर्घश्चोक्तो यो मितां वा चिणीति। इट् चासिद्धस्तेन मे लुप्यते णिर्नित्यश्चायं वल्निमित्तो विघाती॥' इति॥ २२॥

जिस मन्त्रविद्या के अनुसार अर्जुन उग्र तपश्चर्या करके पाशुपतास्त्र रूप साधन प्राप्त करेंगे और जिसके कारण दुष्प्राप्य पराक्रम प्राप्त करके वह इन भीष्म, द्रोण और कर्ण प्रभृति वीरों का नाश करने में समर्थ होंगे॥ २२॥

महत्त्वयोगाय महामहिम्नामाराधनीं तां नृप! देवतानाम्।
दातुं प्रदानोचित! भूरिधाम्नीमुपागतः सिद्धिमिवास्मि विद्याम्॥२३॥

महत्त्वेति। हे नृप! महत्त्वयोगाय प्रकर्षलाभाय महामहिम्नां महानुभावानां देवतानामिन्द्रादीनाम्। आराध्यतेऽनयेत्याराधनी ताम्। प्रसादयित्रीमित्यर्थः। करणे ल्युट्। ङीप्। भूरिधाम्नीं महाप्रभावाम्। 'धाम देशे गृहे रश्मौ स्थाने जन्मप्रभावयोः' इति विश्वः। 'अन उपधालोपिनोऽन्यतरस्याम्' इति वा ङीप्। तां विद्यामिन्द्रमन्त्ररूपां सिद्धिं साक्षात्कार्यसिद्धिमिवेति विद्याया अमोघत्वोक्तिः। हे प्रदानोचित! दानपात्रभूत! फलभोक्तृत्वादस्य पात्रत्वोक्तिः। दातुमुपागतोऽस्मि॥२३॥

ऐ प्रदानपात्र! वह मन्त्रविद्या—जिसके द्वारा महामहिमशाली इन्द्रादिक देवताओं का आराधन किया जाता है, जिसका पराक्रम अतुल है और जो साक्षात् अणिमा, महिमा लघिमा इत्यादि सिद्धि स्वरूपा है; उसी मन्त्रविद्या का प्रदान करने के लिये आप के यहाँ उपस्थित हुआ हूं। उससे आप लोगों के प्रकर्ष (बल और पराक्रम) की अभिवृद्धि होगी॥

इत्युक्तवन्तं व्रज साधयेति प्रमाणयन्वाक्यमजातशत्रोः।
प्रसेदिवांसं तमुपाससाद वसन्निवान्ते विनयेन जिष्णुः॥ २४॥

इतीति। इत्युक्तवन्तं प्रसेदिवांसं प्रसन्नम्। 'भाषायां सदवसश्रुवः' इति क्वसुः। तं मुनिं जिष्णुर्जयनशीलोऽर्जुनः। 'ग्लाजिस्थश्च—' इति ग्स्नुप्रत्ययः। व्रज साधयानुतिष्ठेत्येवंरूपम्। अजातशत्रोर्धर्मराजस्य। स्वयमविद्वेषणशीलत्वादियं संज्ञा। वाक्यं प्रमाणयन्। तदादिष्टः सन्नित्यर्थः। अन्ते वसंश्छात्र इव 'छात्रान्तेवासिनौ शिष्ये' इत्यमरः। विनयेनानौद्धत्येनोपाससाद समीपं प्राप॥ २४॥

अर्जुन, विद्यार्थी की तरह (ज्येष्ठ भ्राता) युधिष्ठिर की 'जाओ, तपस्या करो' इस आज्ञा को स्वीकार कर विनम्र भाव से, विद्या का माहात्म्य समझाते हुये तथा प्रसन्नमुख वेदव्यास के समक्ष उपस्थित हुये॥ २४॥

निर्याय विद्याऽथ दिनादिरम्याद्बिम्बादिवार्कस्य मुखान्महर्षेः ।
पार्थाननं वह्निकणावदाता दीप्तिः स्फुरत्पद्ममिवाभिपेदे ॥ २५ ॥

निर्यायेति । अथ वह्निकणावदाता स्फुलिङ्गवदुज्ज्वला । देवतासान्निध्यादिति भावः । विद्येन्द्रमन्त्ररूपा । दिनादिरम्यादर्कस्य प्रभातभास्करस्य बिम्बादिव महर्षेर्व्यासस्य मुखान्निर्याय निर्गत्य । 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' । दीप्तिरर्कदीधितिः । स्फुरद्विकसत्पद्ममिव । पार्थाननमर्जुनस्य मुखमभिपेदे प्रविष्टा ॥ २५ ॥

जैसे दिन के प्रथम भाग में भगवान् भास्कर के बिम्ब से निकल कर दीप्ति विकसित कमलों का आश्रय ग्रहण करती है, वैसे ही अग्नि की चिनगारियों के समान अत्यन्त प्रकाशमान विद्या ने महर्षि व्यास के मुख से निकल कर अर्जुन के मुख का आश्रय प्राप्त किया ॥

योगं च तं योग्यतमाय तस्मै तपःप्रभावाद्वितताार सद्यः ।
येनास्य तत्त्वेषु कृतेऽवभासे समुन्मिमीलेव चिराय चक्षुः ॥ २६ ॥

योगं चेति । योग्यतमायार्हतमाय तस्मै पार्थाय तं वक्ष्यमाणमहिमानं योगं ध्यानविधिं च । 'योगः संनहनोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु' इत्यमरः । तपःप्रभावात् सद्यो वितताार ददौ । चिरकालग्राह्यमपीति भावः । येन योगेन तत्त्वेषु प्रकृतिमहदादिषु । तथा च—मूलप्रकृतिर्महानहङ्कारो मनश्च पञ्च तन्मात्राणि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि पञ्च महाभूतानीति चतुर्विंशति तत्त्वानि । तत्रावभासे साक्षात्कारे कृते सत्यस्यार्जुनस्य चक्षुरक्षि चिराय समुन्मिमीलेवोन्मिषितमिवेत्युत्प्रेक्षा । तदा तस्य कोऽपि महानखिलाज्ञानभञ्जनस्तत्त्वावभासश्चिरादन्धस्य दृष्टिलाभ इवाभवदिति भावः ॥ २६ ॥

व्यासजी ने अपने तपोवल से उचित पात्र अर्जुन को शीघ्र ही योगावाध को वतला दिया, जिससे चौबीसो तत्त्वों के ज्ञान में इनकी आँख बहुत समय के वाद खुली हुई की भाँति हो गई ॥ २६ ॥

आकारमाशंसितभूरिलाभं दधानमन्तःकरणानुरूपम् ।
नियोजयिष्यन्विजयोदये तं तपःसमाधौ मुनिरित्युवाच ॥ २७ ॥

आकारमिति । आशंसित आख्यातो भूरिलाभोऽनेकश्रेयःप्राप्तिर्येन तं तथोक्तम् । महाभाग्यसूचकमित्यर्थः । अन्तःकरणशब्देन तद्वृत्तिरुत्साहो लक्ष्यते । तदनुरूपं तदनुकूलम् । उत्साहानुगुणव्यापारक्षममित्यर्थः । आकारं मूर्तिं दधानं तमर्जुनं मुनिर्विजयोदये विजयफलके तपःसमाधौ तपोनियमे । 'समाधिर्नियमे ध्याने नीवाके च समर्थने' इति विश्वः । नियोजयिष्यन् नियोजयितुमिच्छन्नित्यर्थः । 'लृट् शेषे च' इति लृट् । 'लृटः सद्वा' इति सत्प्रत्ययः । इति वक्ष्यमाणमुवाच ॥ २७ ॥

अर्जुन के अन्तःकरणमें उत्साह झलक रहा था। उनकी आकृति महान् लाभ को सूचना दे रही थी। उन्हें विजयलाभ दिलाने वाले तपोनियम में लगाते हुये व्यासजी ने कहा—

अनेन योगेन विवृद्धतेजा निजां परस्मै पदवीमयच्छन्।
समाचराचारमुपात्तशस्त्रो जपोपवासाभिषवैर्मुनीनाम् ॥ २८ ॥

अनेनेति। अनेन स्वोपदिष्टेन योगेन विवृद्धतेजा निजां पदवीं परस्मा अयच्छन्। परस्य प्रवेशमयच्छन्नित्यर्थः। उपात्तशस्त्रो निगृहीतायुधः सन्। जपोपवासाभिषवैः स्वाध्यायानशनस्नानैर्मुनीनामाचारं समाचरानुतिष्ठ ॥ २८ ॥

तुम (इस मेरे द्वारा उपदिष्ट) योग से अपने तेज और पराक्रम की वृद्धि करके, अपने मार्ग को किसी को प्रदर्शन न कराते हुये (अर्थात् गुप्त रूप से) हाथ में शस्त्र धारण कर मन्त्र जप, आहार परित्याग और अभिषेक पूर्वक ऋषियों की वृत्ति को धारण करो ॥ २८ ॥

क्षेत्रविशेषे तपःसिद्धिरित्याशयेन तं निदर्शयन्नाह—

करिष्यसे यत्र सुदुश्चराणि प्रसत्तये गोत्रभिदस्तपांसि।
शिलोच्चयं चारुशिलोच्चयं तमेष क्षणान्नेष्यति गुह्यकस्त्वाम् ॥ २९ ॥

करिष्यस इति। यत्र शिलोच्चये गोत्रभिद इन्द्रस्य प्रसत्तये प्रसादाय सुदुश्चराणि तपांसि करिष्यसे, चारुशिलोच्चयं रम्यशिखरं तं शिलोच्चयं गिरिमिन्द्रकीलरूपम्। 'अद्रिगोत्रगिरिग्रावाचलशैलशिलोच्चयाः' इत्यमरः। त्वामेष गुह्यको यक्षः। अनन्तरमेवास्य पुरःप्रादुर्भावादेष इति निर्देशः। क्षणान्नेष्यति प्रापयिष्यति ॥ २९ ॥

जिस पर्वत पर इन्द्र की प्रसन्नतार्थ तुम्हें उग्र तपश्चर्या करनी है, उस रम्य शिखर युक्त पर्वत पर यह यक्ष तुम्हें क्षणमात्र में पहुँचा देगा ॥ २९ ॥

इति ब्रुवाणेन महेन्द्रसूनुं महर्षिणा तेन तिरोबभूवे।
तं राजराजानुचरोऽस्य साक्षात् प्रदेशमादेशमिवाधितष्ठौ ॥ ३० ॥

इतीति। इतीत्थं महेन्द्रसूनुमर्जुनं ब्रुवाणेनोक्तवता। 'वर्त्तमानसामीप्ये' इति भूते वर्त्तमानवत्प्रत्ययस्तिरोधानस्याविलम्बसूचनार्थः। तेन महर्षिणा तिरोबभूवेऽन्तर्दधे। भावे लिट्। राजराजो यक्षराजः। 'राजा प्रभौ नृपे चन्द्रे यक्षे क्षत्रियशक्रयोः' इति विश्वः। तस्यानुचरः पूर्वोक्तयक्षोऽस्य मुनेरादेशं साक्षादिव तं प्रदेशमर्जुनाधिष्ठितस्थानमधितष्ठौ। प्राप्त इत्यर्थः। 'स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य' इति षत्वम् ॥ ३० ॥

व्यासजी, इन्द्रपुत्र अर्जुन से पूर्वोक्त प्रकार का वार्तालाप समाप्त कर अन्तर्हित हो गये। इसके पश्चात् कुबेर का अनुचर (यक्ष) मुनि के मूर्तिधारी आदेश की तरह अर्जुन के पास आ खड़ा हुआ ॥ ३० ॥

कृतानतिर्व्याहृतसान्त्ववादे जातस्पृहः पुण्यजनः स जिष्णौ ।
इयाय सख्याविव सम्प्रसादं विश्वासयत्याशु सतां हि योगः ॥ ३१ ॥

कृतेति । स पुण्यजनो यक्षः कृतानतिः कृतप्रणामः सन्, व्याहृतसान्त्ववादे उक्तप्रियवचने । 'व्याहार उक्तिर्लपितम्' इत्यमरः । जिष्णावर्जुने जातस्पृहो जातानुरागः सन् । सख्यौ सुहृदीव । 'अथ मित्रं सखा सुहृद्' इत्यमरः । संप्रसादं विस्रम्भमियाय प्राप । तथा हि–सतां साधूनां योगः संगतिराशु विश्वासयति विश्वासं जनयति हि । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ३१ ॥

यक्ष ने प्रणाम किया और मधुरभाषी अर्जुन में प्रेम उत्पन्न कर मित्र की तरह विश्वास किया, क्योंकि सुजनों का सम्पर्क शीघ्र ही विश्वास उत्पन्न करा देता है ॥ ३१ ।

अथोष्णभासेव सुमेरुकुञ्जान्विहीयमानानुदयाय तेन ।
बृहद्द्युतीन्दुःखकृतात्मलाभं तमः शनैः पाण्डुसुतान्प्रपेदे ॥ ३२ ॥

अथेति । अथोष्णभासा सूर्येणोदयाय पुनरुद्गमाय विहीयमानांस्त्यज्यमानानिति तमःप्राप्तिकारणोक्तिः । बृहद्द्युतीन् सौवर्णत्वाद्दीप्यमानानित्यर्थः । इति तमसः संकोचकारणोक्तिः । सुमेरुकुञ्जानिव । अत्र सुमेरुग्रहणं कुञ्जानां सौवर्णत्वद्योतनार्थम् । तेनार्जुनेनोदयाय श्रेयसे विहीयमानान्बृहद्द्युतीननेकबुद्धिप्रकाशान् । पूर्ववद्विशेषणद्वययोजनमनुसंधेयम् । पाण्डुसुतान् । चतुर इति शेषः । दुःखेन कृच्छ्रेण कृत उपपादित आत्मलाभ उत्पत्तिर्यस्य तत्तथोक्तम् । तेषां विवेकित्वात्कथंचिल्लब्धोदयमित्यर्थः । तमः शोकोऽन्धकारश्च । 'तमोऽन्धकारे स्वर्भानौ तमः शोके गुणान्तरे' इत्युभयत्रापि विश्वः । शनैर्मन्दं प्रपेदे । तेषां विवेकित्वाद्भीतभीतमिवेति भावः । अत्र तमःशब्दस्य श्लिष्टत्वाच्छ्लेषानुप्राणितेयमुपमा ॥ ३२ ॥

जिस तरह सूर्य्य उदय होने के लिये, प्रकाशमान सुमेरु के शिखरों को पीछे छोड़ देता है, फिर क्रमशः अन्धकार उन्हें व्याप्त कर लेता है; ठीक उसी तरह अर्जुन अभ्युदय के लिये अनेकविध बुद्धिचातुर्य से प्रसन्न रहने वाले अपने चारों भाई पाण्डुपुत्रों से जिस समय अलग होने लगे, उस समय दुःख के द्वारा उत्पन्न होने वाले शोक ने धीरे २ उन्हें घेर लिया।

असंशयालोचितकार्यनुन्नः प्रेम्णा समानीय विभज्यमानः ।
तुल्याद्विभागादिव तन्मनोभिर्दुःखातिभारोऽपि लघुः स मेने ॥ ३३ ॥

असंशयेति । असंशयमसंदिग्धं यथा तथाऽऽलोचितं विवेचितं यत्कार्यं तेन नुन्नो निरस्त इति लघुत्वहेतूक्तिः 'नुदविदोन्दत्राघ्राहीभ्योऽन्यतरस्याम्' इति निष्ठानत्वम् । कार्यगौरवमालोच्य निरस्त इत्यर्थः । तथाऽपि प्रेम्णा भ्रातृवात्सल्येन समानीय पुनराकृष्य विभज्यमानः समशोकभागी क्रियमाणः । तुल्येन प्रेम्णा

दुःखत्वं भवतीति भावः। स पूर्वोक्तो दुःखमेवातिभारोऽपि। अतिभारभूतमपि दुःखमित्यर्थः। तन्मनोभिस्तेषां चतुर्णां पार्थानां मनोभिस्तुल्याद्विभागादिव पूर्वोक्तप्रेमकृतात् समविभागादिवेत्यर्थः। वस्तुतस्तु विवेकादेवेति भावः। पुनर्विभागग्रहणं तस्य हेतुत्वोत्प्रेक्षार्थमनुवादाददोषः। लघुर्मेने मतः। यथैकोऽनेकधा विभज्य बहुभिरुह्यमानो महानपि भारो लघुर्मन्यते तद्वदित्यर्थः॥ ३३॥

चारों भाइयों ने चित्त से संशय का परित्याग करके कार्य्य भार के ऊपर विचार किया था, अतः दुःख का भार दूर हो गया था; परन्तु भ्रातृप्रेम के कारण फिर से उन्होंने एकत्रित कर के मन से समान भागों में मानो विभक्त कर लिया, जिस के कारण वह हलका मालूम पड़ने लगा॥ ३३॥

अथैवं प्रेरणाऽऽकृष्यमाणमपि शोकं विवेको निर्जिगायेत्याह—

धैर्येण विश्वास्यतया महर्षेस्तीव्रादरातिप्रभवाच्च मन्योः।
वीर्यं च विद्वत्सु सुते मघोनः स तेषु न स्थानमवाप शोकः॥ ३४॥

धैर्येणेति। धैर्येण तेषां निसर्गतो निर्विकारचित्तत्वेन तथा महर्षेर्व्यासस्य। प्रवर्त्तकस्येति शेषः। विश्वास्यतया। श्रद्धेयवचनत्वेनेत्यर्थः। अरातिप्रभवादरातिहेतुकात्तीव्राद् दुःसहान्मन्योः क्रोधाद्धेतोस्तथाऽर्जुनप्रभावपरिज्ञानाच्चेति हेत्वन्तरं विशेषणमुखेनाह—मघोनः सुतेऽर्जुने वीर्ये च। 'न लोके—'इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः। विद्वत्सु। ज्ञानवत्स्विति यावत्। 'विदेः शतुर्वसुः' इति वैकल्पिको वस्वादेशः। तेषु पार्थेषु स शोकः स्थानं स्थितिं नावाप न प्राप॥ ३४॥

वे चारो भ्राता स्वाभाविक धैर्य्यशाली थे, महर्षि वेदव्यास के वचनों में श्रद्धा रखते थे; शत्रु के दुर्व्यवहार से उन के क्रोध की मात्रा भी बहुत बढ़ी चढ़ी थी, और इन्द्र के पुत्र अर्जुन के शौर्य्य को वे जानते थे; अतएव उन पाण्डवों के पास शोक ठहर न सका॥३४॥

तान् भूरिधाम्नश्चतुरोऽपि दूरं विहाय यामानिव वासरस्य।
एकौघभूतं तदशर्म कृष्णां विभावरीं ध्वान्तमिव प्रपेदे॥ ३५॥

तानिति। तत्पार्थास्यकवच्छर्म सुखम्। 'शर्मशातसुखानि च' इत्यमरः। तद्विरुद्धमशर्म दुःखम्। 'नञ्' इति नञ्समासः। भूरिधाम्नोऽतितेजस्विन इति हानिहेतुत्वोक्तिः। चतुरस्तान्पार्थानपि वासरस्य भूरिधाम्नश्चतुरो यामान्प्रहरानिव। दूरं विहाय त्यक्त्वैकौघभूतमेकराशिभूतं सत्। 'श्रेण्यादयः कृतादिभिः' इत्यर्थे कर्मधारयः, 'श्रेण्यादिराकृतिगणः' इति शाकटायनः। कृष्णां विभावरीं कृष्णपक्षरात्रिं ध्वान्तमिव। कृष्णां द्रौपदीं प्रपेदे प्राप॥ ३५॥

जैसे अन्धकार परम प्रकाशमान दिन के चारों प्रहरों का अतिक्रमण कर एकत्र होकर

कृष्णपक्ष की रात्रि के पास पहुँच जाता है, उसी तरह अर्जुन के विरह से उत्पन्न शोक प्रतिभाशाली चारों भाइयों का अतिक्रमणकर एक रात्रि बनकर द्रौपदी के पास पहुँचा ॥३५॥

तुषारलेखाऽऽकुलितोत्पलाभे पर्यश्रुणी मङ्गलभङ्गभीरुः ।
अगूढभावाऽपि विलोकने सा न लोचने मीलयितुं विषेहे ॥ ३६ ॥

तुषारेति । सा द्रौपदी विलोकनेऽर्जुनावलोकनेऽगूढभावाऽगूढाभिप्रायाऽपि । स्फुटाभिलाषिणीति यावत् । 'भावो लीलाक्रियाचेष्टाभूत्यभिप्रायजन्तुषु' इति वैजयन्ती। मङ्गलभङ्गभीरुर्मङ्गलहानेर्भीता सती । पर्यश्रुणी परिगताश्रुके । बाष्पावृते इत्यर्थः। अत एव तुषारलेखाऽऽकुलितोत्पलाभे हिमबिन्दुसहितेन्दीवरसंनिभे इत्युपमाऽलङ्कारः। लोचने मीलयितुं न विषेहे न शशाक । अश्रुणो दृष्ट्यावरकत्वेऽपि तन्निपातस्यामङ्गलत्वात्तन्निर्वर्त्तकं निमीलनं सा न चकारेत्यर्थः ॥ ३६ ॥

अर्जुन के अवलोकन के लिये द्रौपदी का अभिलाष व्यक्त था तो भी उसने हिमकण से युक्त कमल के सदृश अश्रुपूर्ण अपने नेत्रों को, अपशकुन हो जाने के डर से निमीलन करने में अपने को असमर्थ पाया (उन्हें ज्यों का त्यों ही रक्खा । यात्रा के समय स्त्री का आँसू बहाना यात्रा को विफल कर देता है) ॥ ३६ ॥

अकृत्रिमप्रेमरसाभिरामं रामार्पितं दृष्टिविलोभि दृष्टम् ।
मनःप्रसादाञ्जलिना निकामं जग्राह पाथेयमिवेन्द्रसूनुः ॥ ३७ ॥

अकृत्रिमेति । इन्द्रसूनुरर्जुनः । क्रियया निर्वृत्तः कृत्रिमः । 'ड्वितः क्त्रिः' इति क्त्रिः । 'क्त्रेर्मम्नित्यम्' इति मप्प्रत्ययः। तद्विरुद्धम् । प्रेमैव रसः । अकृत्रिमेण प्रेमरसेनाभिरामम् । अन्यत्र-प्रेमरसेन मधुरादिना चाभिरामम् । रामया रमण्याऽर्पितम्। दृष्टिं विलोभयतीति दृष्टिविलोभि । दृष्टिप्रियमित्यर्थः । दृष्टं दर्शनं 'नपुंसके भावे क्तः'। मनःप्रसादः । प्रसन्नं मन इत्यर्थः । सोऽञ्जलिरिवेत्युपमितसमासः । तेन मनःप्रसादाञ्जलिना । पथि साधु पाथेयं शम्बलमिव । 'पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ्' निकाममतिशयेन जग्राह । रामाऽर्पितं पाथेयं पथि क्षेमाय भवतीत्यागमः ॥ ३७ ॥

इन्द्रनन्दन अर्जुनने, अञ्जलि से स्त्री के द्वारा अर्पण किये गये शम्बल (रास्ते का कलेवा) की तरह, स्वाभाविक प्रेम रस से मनोहर, दृष्टिविलोभी दर्शन को प्रसन्न मन से ग्रहण किया अर्थात् प्रसन्नतापूर्वक देखा ॥ ३७ ॥

धैर्यावसादेन हृतप्रसादा वन्यद्विपेनेव निदाघसिन्धुः ।
निरुद्धबाष्पोदयसन्नकण्ठमुवाच कृच्छ्रादिति राजपुत्री ॥ ३८ ॥

धैर्येति । वन्यद्विपेन । वन्यग्रहणमुच्छृङ्खलत्वद्योतनार्थम् । निदाघसिन्धुर्ग्रीष्मनदीव । निदाघग्रहणं दौर्बल्यद्योतनार्थम् । धैर्यावसादेन धैर्यभ्रंशेन कर्त्रा हृतप्रसादा

हृतनैर्मल्या। क्षोभं गमितेत्यर्थः। राजपुत्री क्षत्रियसुता द्रौपदी। अतः क्षात्रयुक्तमेव वक्ष्यतीति भावः। निरुद्धवाष्पोदयं संरुद्धरोदनं सन्नकण्ठं हीनस्वरम्। अथ तयोरुभयोः कृतबहुव्रीह्योः क्रियाविशेषणयोर्विशेषणसमासः। कृच्छ्रात्कथंचिदिति वक्ष्यमाणमुवाच॥

जिस तरह जङ्गली हाथी ग्रीष्म काल में नदियों की निर्मलता का अपहरण कर लेता है, उसी तरह धैर्य्य की न्यूनता ने राजकुमारी की प्रसन्नता का अपहरण कर लिया। अश्रुवेग के निरोध से उनका स्वर क्षीण हो गया था, इस लिये वह कष्ट के साथ बोली—॥ ३८ ॥

मग्नां द्विषच्छद्मनि पङ्कभूते सम्भावनां भूतिमिवोद्धरिष्यन्।
आधिद्विषामा तपसां प्रसिद्धेरस्मद्विना मा भृशमुन्मनीभूः॥ ३९॥

मग्नामिति। पङ्कभूते पङ्कोपमिते। 'भूतं क्ष्माऽऽदौ पिशाचादौ न्याय्ये सत्योपमानयोः' इति विश्वः। द्विषच्छद्मनि शत्रुकपटे मग्नाम् दुरुद्धरामित्यर्थः। सम्भावनां। योग्यताम्। गौरवमिति यावत्। भूतिं संपदमिव। 'भूतिर्भस्मनि संपदि' इत्यमरः। उद्धरिष्यन्। उद्धारकस्त्वमिति शेषः। आधिद्विषां दुःखच्छिदां तपसामाप्रसिद्धेः सम्यक्सिद्धिपर्यन्तमस्मद्विना। अस्माभिर्विनेत्यर्थः। 'पृथग्विना—' इत्यादिना विकल्पात्पञ्चमी। भृशं मोन्मनीभूः। अस्मद्विरहाद् दुर्मना मा भूरित्यर्थः। दौर्मनस्यस्य तपःपरिपन्थित्वादिति भावः। 'माङि—' इत्याशीरर्थे लुङ्। 'न माङ्योगे' इत्यडागमप्रतिषेधः। अनुन्मना उन्मनाः सम्पद्यमान उन्मनी। अभूततद्भावे च्विः। 'अरुर्मनुश्चक्षुश्चेतोरहोरजसां लोपश्च' इति सकारलोपः। 'अस्य च्वौ' इतीकारः॥ ३९॥

शत्रु के कपटरूप कीचड़ में फसे हुये सम्पत्तिरूप गौरव के आप ही उद्धारकर्ता हैं, इसलिये मानसिक व्यथा के दूर करने में समर्थ तपस्या की सिद्धि पर्य्यंत हम लोगों के विरह से आप व्यथित न हों॥ ३९॥

अथानौत्सुक्यदार्ढ्यार्थं तस्य सर्वार्थसिद्धिनिदानत्वमाह—

यशोऽधिगन्तुं सुखलिप्सया वा मनुष्यसंख्यामतिवर्त्तितुं वा।
निरुत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुकेवाङ्कमुपैति सिद्धिः॥ ४०॥

यश इति। यशोऽधिगन्तुम्। कीर्तिं लब्धुमित्यर्थः। सुखस्य लिप्सया लब्धुमिच्छया वा। मनुष्यसंख्यां मनुष्यगणनामतिवर्त्तितुमतिक्रमितुं वा अमानुष कर्म कर्तुं चेत्यर्थः। अभियोगभाजामभिनिवेशवतां निरुत्सुकानामनुत्सुकानाम्। अदुर्मनायमानानामित्यर्थः। सिद्धिः पूर्वोक्तं यशः सुखाद्यर्थसिद्धिश्च। समुत्सुकेवानुरक्तकान्तेवाङ्कमुत्सङ्गमन्तिकं चोपैति। तस्मादस्मद्विरहदुःखमा तपःसिद्धेः सोढव्यमिति भावः॥

कीर्तिलाभ करने के लिये, सुख को पाने की, तथा मनुष्य की संख्या को उल्लंघन करने (सब से बढ़कर कहे जाने) की इच्छा से कार्य्य करने के लिये उद्यत जो पुरुष उत्कण्ठा का परित्याग कर देते हैं, उनकी सिद्धि उत्कंठित रमणी की तरह अङ्कस्थ हो जाती है॥ ४०॥

अथास्य मन्यूद्दीपनद्वारा तपःप्रवृत्तिं प्रथयितुमरिनिकारं तावच्चतुर्भिरुद्घाटयति—

लोकं विधात्रा विहितस्य गोप्तुं क्षत्रस्य मुष्णन् वसु जैत्रमोजः ।
तेजस्वितायाः विजयैकवृत्तेर्निघ्नन्प्रियं प्राणमिवाभिमानम् ॥ ४१ ॥

लोकमिति । विधात्रा ब्रह्मणा लोकं गोप्तुं विहितस्य सृष्टस्य क्षत्रस्य क्षत्रियजातेः सम्बन्धि । जयनशीलं जेतृ तदेव जैत्रम् । जेतृशब्दात्तृन्नन्तात् 'प्रज्ञादिभ्यश्च' इति स्वार्थेऽण्प्रत्ययः । ओजो बलं दीप्तिर्वा । 'ओजो बले च दीप्तौ च' इति विश्वः । तदेव वसु धनमिति रूपकालङ्कारः । मुष्णन्नपहरन् । अरिनिराकृतस्य कुतः क्षात्रं तेज इति भावः । किञ्च विजयैकवृत्तेर्विजयैकजीवितायाः । 'क्षत्रियस्य विजितव्यम्' इति स्मरणादिति भावः । 'वृत्तिर्वर्तनजीवने' इत्यमरः । तेजस्वितायाः, तेजस्विनामित्यर्थः । तेजःप्राधान्यद्योतनार्थं भावप्रधाननिर्देशः । प्रियं प्राणसममित्यर्थः । अभिमानमहङ्कारं निघ्नन् खण्डयन् । तेजस्विनां प्राणहानिप्राया मानहानिरिति भावः ॥ ४१ ॥

(आगे श्लोक ४१ से लेकर ४४ तक का सम्बन्ध एक दूसरे में लगा हुआ है, प्रधान क्रिया श्लोक सं० ४४ तीसरे चरण में 'नवीकरिष्यत्' पद है और इसका कर्त्ता श्लोक सं० ४४ के अन्तिम चरण में 'निकार' पद है) । ब्रह्मा ने लोक की रक्षा के लिये क्षात्र तेज की रचना की है । विजयशील पराक्रम इसका सर्वस्व है । इस तरह के क्षात्र तेज की सम्पत्ति अपहरण करता हुआ, शत्रु कृत पराभव क्षत्रिय जाति के उस अहङ्कार का, जो प्राणों से भी बढ़ कर है, नाश करता है ॥ ४१ ॥

अधिक्षेपाद्यसहनं तेजः प्राणात्ययेष्वपि न त्याज्यमित्याह—

व्रीडानतैराप्तजनोपनीतः संशय्य कृच्छ्रेण नृपैः प्रपन्नः ।
वितानभूतं विततं पृथिव्यां यशः समूहन्निव दिग्विकीर्णम् ॥ ४२ ॥

व्रीडेति । पुनश्च । आप्तजनेनोपनीतः साधितः । प्रापित इत्यर्थः तथाऽपि संशय्य संदिह्य । असंभावितबुद्ध्येति भावः । व्रीडानतैः । जुगुप्सितवृत्तान्तश्रवणादिति भावः । नृपैर्देशान्तरस्थैः कृच्छ्रेण प्रपन्नः । आप्तोक्तत्वात्कथंचिद्विश्वस्त इत्यर्थः । श्रृण्वतामपि दुःसहः किमुतानुभवतामिति भावः । इत्येषा पूर्वेषां व्याख्या । अन्यथा च व्याख्यायते—आप्तजनोपनीतो ज्ञातिकृतः संशय्य कथमिदमन्याय्यमुपेक्ष्यमिति विचार्य व्रीडानतैः । जुगुप्सितकर्मदर्शनादिति भावः । नृपैस्तत्रत्यैः कृच्छ्रेण प्रपन्नोऽङ्गीकृतः । गोत्रकलहेषु मध्यस्थैरुदासितव्यमिति बुद्ध्योपेक्षित इत्यर्थः । पदद्वयेऽपि प्रपन्नः इत्यत्राप्तजनोपनीतत्वस्य पदार्थभूतस्य विशेषणगत्या हेतुत्वोक्तेः काव्यालिङ्गमलंकारः । पृथिव्यां वितानभूतमुल्लोचोपमितम् । यद्वा वितानभूतं वितानसमम् । उल्लोचतुल्यमिति यावत् । 'युक्ते क्ष्माऽऽदावृते भूते प्राण्यतीते समे त्रिषु' इत्यमरः । 'अस्त्री वितानमुल्लोचः' इत्यमरः । दिग्विकीर्णं दिगन्तलग्नम्

वितानमपि दिगन्तलग्नमिति भावः। विततं प्रथितं यशः समूहमिव संकोचयन्निवे त्युत्प्रेक्षा। अरातिपरिभूतस्य कुतः कीर्तिरिति भावः॥ ४२॥

(सुयोधन के समक्ष दुश्शासन के द्वारा जो मेरा केशाकर्षणरूप निन्दित कर्म किया गया है) उस से और देशान्तर स्थित राजाओं ने पहले तो विश्वास नहीं किया फिर आप लोगों के मुख से निकलने के कारण किसी तरह विश्वास कर लज्जा से शिर झुका लिया। तथा उस सभा में उपस्थित जातीय और सम्बन्धी राजाओं ने इस कुत्सित कर्म को देख लज्जित हो कर किसी तरह उस की उपेक्षा की—इस तरह का जो शत्रुकृत पराभव है, वह पृथ्वी के एक छोर से दूसरे छोर तक चँदोवे की तरह फैले हुये आपके यश को सङ्कुचित करते हुए की तरह है॥ ४२॥

वीर्यावदानेषु कृतावमर्षस्तन्वन्नभूतामिव सम्प्रतीतिम्।
कुर्वन्प्रयामक्षयमायतीनामर्कत्विषामह्न इवावशेषः॥ ४३॥

वीर्येति। पुनश्च। वीर्याण्येवावदानानि तेषु कृतावमर्षः कृतास्कन्दनः। पुराकृतपराक्रमजातान्यपि प्रमृजन्नित्यर्थः। 'अवदानं कर्म वृत्तम्' इत्यमरः। अत एव सम्प्रतीतिं ख्यातिम्। 'प्रतीते प्रथितख्यातवित्तविज्ञातविश्रुताः' इत्यमरः। अभूतामविद्यमानामिवेत्युत्प्रेक्षा। सतोऽप्यसत्त्वमुत्प्रेक्षयते—तन्वन्कुर्वन्। पुनश्चाह्नोऽवशेषो दिनान्तोऽर्कत्विषामिवायतीनामुत्तरकालानां प्रयामक्षयं दैर्घ्यनाशं कुर्वन्निति श्रौती पूर्णोपमा। अरिनिराकृतस्य कुतश्चिरावस्थानमिति भावः॥ ४३॥

यह शत्रुकृत पराभव, आप लोगों के पूर्वकृत पराक्रम के कार्य्य पर परदा डालता हुआ, 'आपने पराक्रम का कार्य्य कभी किया ही नहीं है' इस तरह की प्रसिद्धि (ख्याति) लोगों के बीच में फैलाता है और जैसे दिन का अवशिष्ट भाग दिशाओं में फैली हुई सूर्य्य की किरणों का संहार कर डालता है वैसे ही वह निकार (पराभव) आपके उत्तर काल की स्थिरता का संहार कर रहा है॥ ४३॥

प्रसह्यः योऽस्मासु परैः प्रयुक्तः स्मर्तुं न शक्यः किमुताधिकर्तुम्।
नवीकरिष्यत्युपशुष्यदार्द्रः स त्वद्विना मे हृदयं निकारः॥ ४४॥

प्रसह्येति। पुनश्च। परैः शत्रुभिरस्मासु प्रसह्य प्रयुक्त आचरितो यो निकारः परिभवः केशाकर्षणरूपः स्मर्तुं न शक्यः। अधिकर्तुमनुभवितुं किमुत। यस्य स्मरणमपि दुःसहमनुभवस्तु दुःसह इति किमु वक्तव्यमित्यर्थः। स निकारस्त्वद्विना त्वया विना 'पृथग्विना—' इत्यादिना पञ्चमी। आर्द्रः सन्कृतश्चिदभिभूतात्पुराणप्रहार इव। त्वद्विरहदुःखात्पुनर्नवीकरिष्यति। नवीभविष्यतीत्यर्थः। उपशुष्यत्। त्वया विना शुष्कमिति भावः। दुःखस्तम्भनं शोषपदार्थो मे हृदयं नवीकरिष्यत्यार्द्रीकरिष्यति।

व्रणमिवेति भावः । दुःखितस्य पुनर्दुःखोपचयः प्रशान्तप्रायमपि दुःखहेतुं पुनरुद्धाटयतीत्यर्थः। अत्र श्लोपादिविशेषणसाम्याद् व्रणाद्यप्रस्तुतार्थप्रतीतेः समासोक्तिरलंकारः॥

बलपूर्वक शत्रुओं ने हम लोगों पर जो अत्याचार किया है उसकी स्मृति ही असह्य है फिर उसकी अनुभूति के विषय में कहना ही क्या ? वह आप की अनुपस्थिति में सूखते हुये घाव की तरह हृदय का दुःख जो भूल-सा गया था फिर याद करा देगा ॥ ४४ ॥

प्राप्तोऽभिमानव्यसनादसह्यं दन्तीव दन्तव्यसनाद्विकारम् ।
द्विषत्प्रतापान्तरितोरुतेजाः शरद्घनाकीर्ण इवादिरह्नः ॥ ४५ ॥

प्राप्त इति । अभिमानस्य व्यसनाद् भ्रंशाद् 'व्यसनं विपदि भ्रंशे दोषे कामजकोपजे' इत्यमरः । दन्तव्यसनाद् दन्तभङ्गाद्दन्तीवासह्यं विकारं वैरूप्यं प्राप्तः । अतो न प्रत्यभिज्ञायत इति भावः । एवमुत्तरत्राप्यनुसन्धेयम् । पुनश्च । द्विषत्प्रतापेन शत्रुतेजसाऽन्तरितं तिरस्कृतमुरु तेजः प्रतापो यस्य स तथोक्तः । अत एव शरद्घनाकीर्णः शरन्मेघच्छन्नोऽह्न आदिः प्रत्यूष इव स्थितः । तद्वदेवाप्रत्यभिज्ञायमान इत्यर्थः। मध्याह्नस्तु मेघावरणेऽपि कथंचित्प्रत्यभिज्ञायत एवेत्याशयेनोक्तमादिरिति ॥ ४५ ॥

दाँतों के टूट जाने से जिस तरह गजराज विरूप हो जाता है, उसी तरह (आज कल) मान मर्य्यादा के नष्ट हो जाने से आप भी विरूप-से हो गये हैं । आप का प्रताप शत्रु के प्रताप से आच्छादित हो गया है, अतः आप शरत्काल के मेघ द्वारा आच्छन्न प्रत्यूष काल की तरह हतप्रभ हो रहे हैं ॥ ४५ ॥

सव्रीडमन्दैरिव निष्क्रियत्वान्नात्यर्थमस्त्रैरवभासमानः ।
यशःक्षयक्षीणजलार्णवाभस्त्वमन्यमाकारमिवाभिपन्नः ॥ ४६ ॥

सव्रीडेति । पुनश्च । निष्क्रियत्वादर्थक्रियाशून्यत्वात्सव्रीडमन्दैरिव सव्रीडैरत एव मन्दैरपटुभिरिव स्थितैरित्युत्प्रेक्षा । 'मूढाल्पापटुनिर्भाग्या मन्दाः' इत्यमरः । अस्त्रैरत्यर्थं नावभासमानो न प्रकाशमानः । पूर्वं तु नैवमिति भावः । किं तु यशःक्षयाद्धेतोः क्षीणजलो योऽर्णवस्तदाभस्तत्सदृशस्त्वमन्यमाकारमभिपन्नः प्राप्त इव स्थित इत्युत्प्रेक्षा । तस्य क्षीणजलार्णवाभ इत्युपमासंसृष्टिः ॥ ४६ ॥

कार्य्य में न लाने के कारण ये अस्त्र लज्जित की तरह कुण्ठित हो गये हैं, इनसे आप का तेज मन्द पड़ गया है । आप यश के ह्रास हो जाने के कारण बिना जल के अर्थात् सूखे हुये समुद्र की तरह सुन्दर नहीं दिखलाई पड़ रहे हैं, प्रत्युत मालूम पड़ता है आपने अपना स्वरूप बदल दिया है ॥ ४६ ॥

दुःशासनामर्षरजोविकीर्णैरेभिर्विनाथैरिव भाग्यनाथैः ।
केशैः कदर्थीकृतवीर्यसारः कच्चित्स एवासि धनञ्जयस्त्वम् ॥ ४७ ॥

दुःशासनेति। पुनश्च। दुःशासनस्य कर्तुरामर्षं आमर्षणमाकर्षणं स एव रजो धूलिः। मालिन्यहेतुत्वादिति भावः। तेन विकीर्णैर्विक्षिप्तैरत एव विनाथैरिव स्थितवतां युष्माकमसत्वप्रायत्वादनाथैरिव स्थितैरित्युत्प्रेक्षा। अन्यथा कथमियं दुर्दशेति भावः। किन्तु भाग्यनाथैर्दैवमात्रशरणैः। अन्यथा स्वरूपमपि लुप्येतेति भावः। एभिः परिदृश्यमानैः। असंयमितैरिति भावः। केशैः शिरोरुहैः कुत्सितोऽर्थो वस्तु कदर्थः। 'अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु' इत्यमरः।'कोः कत्तत्पुरुषेऽचि' इति कुशब्दस्य कदादेशः। कदर्थीकृतौ गर्ह्यार्थीकृतौ वीर्यसारौ शौर्यबले यस्य स तथोक्तः। इत्थं पूर्वविलक्षणस्त्वं स एव धनञ्जयोऽसि कच्चित्। 'कच्चित्कामप्रवेदने' इत्यमरः। स एव चेत्त्वं नैवमस्मानुपेक्षस इति भावः॥ ४७॥

दुःशासन के क्रोधरूप (घसीटे जाने के कारण) धूल से भरे हुये, असहाय की तरह ईश्वर के भरोसे रहने वाले इन मेरे केशपाशों से जिस आपका पराक्रम और बल—दोनों जुगुप्सा को प्राप्त हुए हैं, क्या आप वही अर्जुन हैं? ॥ ४७॥

अथाप्युपेक्षणे दोषमाह—

स क्षत्रियस्त्राणसहः सतां यस्तत्कार्मुकं कर्मसु यस्य शक्तिः।
वहन्द्वयीं यद्यफलेऽर्थजाते करोत्यसंस्कारहतामिवोक्तिम्॥ ४८॥

स इति। क्षतात्त्रायत इति क्षत्रं क्षत्रियकुलम्। 'सुपि' इति योगविभागात्कप्रत्ययः। पृषोदरादित्वात्पूर्वपदस्यान्त्यलोपः। अथवा क्षदिति क्विबन्तोपपदात्कप्रत्ययः। क्षत्रे जातः क्षत्रियः। 'क्षत्राद् घः' इति घप्रत्ययः। कर्मणे प्रभवतीति कार्मुकम्। 'कर्मण उकञ्' इत्युकञ्प्रत्ययः। एवं स्थिते वाक्यार्थः कथ्यते। यः सतां साधूनाम्। सहत इति सहः। पचाद्यच्। त्राणस्य सहस्त्राणसहो रक्षणक्षमः स एव क्षत्रियशब्दवाच्यः। तथा यस्य कार्मुकस्य कर्मसु रणक्रियासु शक्तिः। अस्तीति शेषः। तदेव कार्मुकशब्दवाच्यम्। अत्रैवैतौ शब्दौ मुख्यौ। नान्यत्रेत्यर्थः। एवं स्थिते द्वयीं द्विविधामुक्तिम्। द्वाविमौ क्षत्रियकार्मुकशब्दावित्यर्थः। अफले। पूर्वोक्तावयवार्थशून्ये, अर्थजाते। स्वाभिधेयसामान्यजातिमात्र इत्यर्थः। 'जातं जात्योघजन्मसु' इति विश्वः। वहन्वर्त्तयन्। असंस्कारहतामव्युत्पत्तिदूषितामिव करोतीत्युत्प्रेक्षा। तस्मात्त्वमस्मद्रक्षणेनोक्तदोषादात्मानं मोचयस्वेत्यर्थः॥ ४८॥

जो सज्जनों की रक्षा करने में समर्थ हो, वही क्षत्रिय है। जिसकी कर्म (कार्य्य) करने में अर्थात् संग्राम में कार्य्य करने की शक्ति हो, उसी का नाम कार्मुक है। यदि इन दोनों प्रकार की व्युत्पत्तियों के होते हुये भी व्युत्पत्ति का अर्थ सुसंघटित नहीं होता अर्थात् ये दोनों (क्षत्रिय और कार्मुक) अपने अवयवार्थ के अनुकूल कार्य्य करने में असमर्थ पाये जाते हैं तो व्याकरण शास्त्र के अनुसार इन शब्दों की व्युत्पत्ति करके इनका साधन

करना सब व्यर्थ है अर्थात् क्षत्रिय को सज्जनों की रक्षा अवश्य करनी चाहिये और धनुष को समर में कार्य्य-कुशलता प्रदर्शन करना चाहिये ॥ ४८ ॥

अथ त्वद्गुणा अपि नोज्जीवयेयुरित्याह—

वीतौजसः सन्निधिमात्रशेषा भवत्कृतां भूतिमपेक्षमाणाः ।
समानदुःखा इव नस्त्वदीयाः सरूपतां पार्थ ! गुणा भजन्ते ॥ ४९ ॥

वीतेति । हे पार्थ ! वीतौजसो निष्प्रभाः सन्निधिमात्रशेषाः सत्तामात्रावशिष्टा भवत्कृतां भवता करिष्यमाणाम् । 'आशंसायां भूतवच्च' इति भूतवत्प्रत्ययः । भूतिमभ्युदयमपेक्षमाणास्त्वदीया गुणाः समानदुःखाः समदुःखभाज इव नोऽस्माकं सरूपतां वीतौजस्त्वादिसाधर्म्यं भजन्त इत्युपमा । सा च समानदुःखा इवेत्युत्प्रेक्षया वीतौजस्त्वादिसम्भावितयाऽनुप्राणितेत्यनुसन्धेयम् ॥ ४९ ॥

ऐ अर्जुन ! जिस तरह हम लोग पराक्रमहीन हो गये हैं । सब कुछ नष्ट हो गया केवल 'हम लोग एक दूसरे से पृथक् नहीं हैं' (अर्थात् एक साथ निवास करते हैं) यही अवशेष रह गया है । हम लोग आपके द्वारा विहित अभ्युदय की अपेक्षा (प्रतीक्षा) कर रहे हैं इसी तरह आपके शमादिक गुण भी निस्तेज होकर सत्तामात्र अवशिष्ट हैं, वे आपके द्वारा होने वाली उन्नति की प्रतीक्षा कर रहे हैं । वे हम लोगों की ही तरह दुःखी भी हो रहे हैं । इन सब बातों से हम लोगों की बराबरी करते हुये की तरह आपके वे गुण हैं ॥ ४९ ॥

तथाऽपि ममैव कोऽयं भार इत्यत आह—

आक्षिप्यमाणं रिपुभिः प्रमादान्नागैरिवालूनसटं मृगेन्द्रम् ।
त्वां धूरियं योग्यतयाऽधिरूढा दीप्त्या दिनश्रीरिव तिग्मरश्मिम् ॥ ५० ॥

आक्षिप्येति । प्रमादात्प्रज्ञाहीनत्वात् । न तु दौर्बल्यादिति भावः । रिपुभिराक्षिप्यमाणमभिक्षिप्यमाणमत एव प्रमादात् । नागैर्गजैः । 'ग्रहेभाहिगजा नागाः' इति वैजयन्ती । आलूनसटमाक्षिप्तकेसरम् । 'सटा जटाकेसरयोः' इत्यमरः । मृगेन्द्रं सिंहमिव स्थितम् । त्वामियं धूः कार्यभारः । तिग्मरश्मिं सूर्यं दीप्त्या दिनश्रीरिव योग्यतया निर्वाहकतयाऽधिरूढाऽऽरूढवती । कर्त्तरि क्तः । त्वदधीनेत्यर्थः ॥ ५० ॥

असावधानी के कारण हाथियों के द्वारा गर्दन के बाल नोचने वाले सिंह की भाँति शत्रुओं से आप अपमानित हुए हैं । जिस तरह दिनश्री अपनी कान्ति से प्रखर किरणशाली सूर्य्य का आश्रय प्राप्त करती है, उसी तरह शत्रुकृत सम्पूर्ण दुर्दशा के दूर करने का भार आपको योग्य समझ कर आप पर निर्धारित है । (हम लोगों की इस विपत्ति का नाश करने में आप ही समर्थ हैं) ॥ ५० ॥

पूर्वं निर्व्यवसायस्य 'स त्वप्रियः' इत्यादिना दोष उक्तः। संप्रति व्यवसायिनां गुणमाह—

करोति योऽशेषजनातिरिक्तां सम्भावनामर्थवतीं क्रियाभिः।
संसत्सु जाते पुरुषाधिकारे न पूरणी तं समुपैति संख्या ॥ ५१ ॥

करोतीति। यः पुमान् अशेषजनाद्वितरजनादतिरिक्तामधिकाम्। सर्वातिशायिनीमित्यर्थः। सम्भावनां योग्यतां क्रियाभिश्चरितैरर्थवतीं सफलां करोति। तं पुमांसं संसत्सु सभासु 'सभासमितिसंसदः' इत्यमरः। पुरुषाधिकारे योग्यपुरुषगणनाप्रस्तावे जाते सति पूर्यतेऽनयेति पूरणी संख्या। द्वित्वादिसंख्या। न समुपैति न गच्छति। अद्वितीयो भवतीत्यर्थः। तस्मादसाधारणलाभाय त्वयाऽपि महानुत्साह आस्थेय इति भावः ॥ ५१ ॥

जो व्यक्ति, अपने कर्तव्यों से (अपनी) सब श्रेष्ठ योग्यता को सफल बनाता है; सभा में योग्य पुरुष की गणना का प्रस्ताव उपस्थित हो जाने पर उस पुरुष की समानता के लिये फिर दूसरी संख्या उस के पास नहीं आती अर्थात् वह एक (अद्वितीय) गिना जाता है (सर्व प्रथम होता) है ॥ ५१ ॥

अथ द्वाभ्यां सुलभविपक्षस्य प्रोषितस्यार्जुनस्य कर्त्तव्यमुपदिशति—

प्रियेषु यैः पार्थ! विनोपपत्तेर्विचिन्त्यमानैः क्लममेति चेतः।
तव प्रयातस्य जयाय तेषां क्रियादघानां मघवा विघातम् ॥ ५२ ॥

प्रियेष्विति। हे पार्थ! प्रियेष्वस्मासु विषये। उपपत्तेः कारणाद्विनैव विचिन्त्यमानैर्यैरघैश्चेतः क्लमं खेदमेति। जयाय प्रयातस्य तव सम्बन्धिनां तेषामघानां व्यसनानाम्। 'दुःखैनोव्यसनेष्वघम्' इत्यमरः। मघवेन्द्रः योऽस्माभिरुपास्यत इति भावः। विघातं निवारणं क्रियात्करोतु। आशिषि लिङ्। तस्मादस्मच्चिन्तया न चेतः खेदयितव्यं जयार्थिना त्वया। अन्यथा तदसंभवादिति भावः ॥ ५२ ॥

ऐ पृथापुत्र! विजयार्थ प्रस्थान करने वाले आप के उन दुःखों का नाश देवराज इन्द्र करें, जो प्रिय लोगों के विषय में विना किसी कारण के होते हुए भी चिन्तन किये जाते हैं, जिनसे चित्त व्यथित होता है ॥ ५२ ॥

मा गाश्चिरायैकचरः प्रमादं वसन्नसम्बाधशिवेऽपि देशे।
मात्सर्यरागोपहतात्मनां हि स्खलन्ति साधुष्वपि मानसानि ॥ ५३ ॥

मा गा इति। असंबाधोऽसङ्कटः। विजन इत्यर्थः। 'संकटं ना तु सम्बाधः' इत्यमरः। शिवो निर्बाधः। द्वयोरन्यतरस्य विशेष्यत्वविवक्षायां विशेषणसमासः। अस्मिन्नसम्बाधशिवेऽपि देशे चिराय चिरमेकश्चासौ चरश्चेत्येकचर एकाकी वसन्

प्रमादं दौर्बल्यं मा गाः । 'इणो गा लुङि' इति गाऽऽदेशः । ननु निःस्पृहस्य ममा- किञ्चित्करः प्रमाद इति वाच्यमित्याशङ्क्याह—मात्सर्येति । मत्सर एव मात्सर्यं द्वेषो रागः स्नेहस्ताभ्यामुपहतात्मनां रागद्वेषदूषितस्वभावाना मानसानि मनांसि साधुषु सज्जनेष्वपि विषये स्खलन्ति विकुर्वते हि । अत्र प्रमादनिषेधलब्धाप्रमादरूपकारणे- नार्थप्राप्तिरूपकार्यस्य व्यतिरेककारणसमर्थनाद्वैधर्म्येण कार्यकारणसमर्थनरूपोऽर्था- न्तरन्यासः ॥ ५३ ॥

जनसम्पर्करहित (एकान्त) और विघ्नबाधा शून्य स्थान में अधिक दिन तक अकेले निवास करते हुए भी आप असावधानी न करना अर्थात् सतर्क रहना, क्योंकि राग-द्वेष से आकृष्ट व्यक्तियों के चित्त महात्माओं के विषय में भी विकृत हो जाते हैं ॥ ५३ ॥

तदाशु कुर्वन्वचनं महर्षेर्मनोरथान्नः सफलीकुरुष्व ।
प्रत्यागतं त्वाऽस्मि कृतार्थमेव स्तनोपपीडं परिरब्धुकामा ॥ ५४ ॥

तदिति । तत्तस्मात्कारणात् । आशु शीघ्रं महर्षेर्वचनं कुर्वन् । तपस्यन्नित्यर्थः । नोऽस्माकं मनोरथान्सफलीकुरुष्व । अरिनिर्यातनेनास्मान्प्रतिष्ठापयेत्यर्थः। प्रार्थनायां लोट् । किञ्च, कृतार्थं कृतकृत्यं प्रत्यागतमेव त्वा त्वाम् । 'त्वामौ द्वितीयायाः' इति त्वाऽऽदेशः । स्तनयोरुपपीड्य स्तनोपपीडम् । 'सप्तम्यां चोपपीडरुधोः' इति णमुल् । परिरब्धुं कामो यस्याः सा परिरब्धुकामाऽस्मि । आलिङ्गितुमिच्छामीत्यर्थः । 'तुं काममनसोरपि' इति मकारलोपः । प्राक्कार्यसिद्धेः प्रमदाऽऽलिङ्गनमपि न प्रीतिद- मिति भावः ॥ ५४ ॥

अतः व्यास जी के आदेश का पालन करते हुए शीघ्र ही हम लोगों के मनोरथ को सफल बनाइये । कार्य्यसिद्धि करके लौट आने पर तुम्हें गाढ आलिङ्गन करने की मैं अभिलाषुक हूँ ॥ ५४ ॥

उदीरितां तामिति याज्ञसेन्या नवीकृतोद्ग्राहितविप्रकाराम् ।
आसाद्य वाचं स भृशं दिदीपे काष्ठामुदीचीमिव तिग्मरश्मिः ॥ ५५ ॥

उदीरितामिति । सोऽर्जुन इतीत्थं यज्ञसेनस्यापत्येन स्त्रिया याज्ञसेन्या द्रौपद्यो- दीरितामुक्ताम् । नवीकृतः पुनरुद्घाटनेन तथा प्रत्यायितोऽत एवोद्ग्राहितो मनसि निधापितश्च विप्रकारः परिभवो यया सा तां वाचमासाद्य आकर्ण्येत्यर्थः । उदीचीं काष्ठां दिशम् । 'दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः' इत्यमरः । तिग्मरश्मि- रिव । भृशं दिदीपे जज्वाल । चुक्रोधेत्यर्थः ॥ ५५ ॥

द्रौपदी के कहे हुये वाक्य, जो नवीन से होकर शत्रुकृत अपकार को अर्जुन के हृदय में जमा दिये थे, सुनकर अर्जुन उत्तर दिशा में प्राप्त सूर्य्य की तरह प्रकाशित होने लगे ॥५५॥

अथाभिपश्यन्निव विद्विषः पुरः पुरोधसाऽऽरोपितहेतिसंहतिः ।
बभार रम्योऽपि वपुः स भीषणं गतः क्रियां मन्त्र इवाभिचारिकीम् ॥५६॥

अथेति । अथ विद्विषः शत्रून्पुरोऽभिपश्यन्निव स्थितस्तथा पुरोधसा धौम्येनारोपिता समन्त्रमाहिता हेतिसंहतिरायुधकलापो यस्य स तथोक्तः । 'हेतिर्ज्वालाऽङ्कुरायुधे' इति वैजयन्ती । सोऽर्जुनो रम्यः सौम्यः सन्नपि । अभिचारः परहिंसा प्रयोजनं यस्याः साऽऽभिचारिकी । 'प्रयोजनम्' इति ठञ् । तां क्रियां गतः । अभिचारकर्मणि नियुक्त इत्यर्थः । मन्त्र इव रम्यः प्रकृत्या रमणीयः । भीषयत इति भीषणम् । नन्द्यादित्वाल्ल्युप्रत्ययः । वपुर्बभार । शान्तो मन्त्रः प्रयोगभेदाद्दिव सोऽप्यवस्थाभेदाद्भीषणो बभूवेत्यर्थः ॥ ५६ ॥

शत्रुओं को सन्मुख उपस्थित की भाँति देखते हुये अर्जुन के समीप पुरोधा (धौम्यने) समन्त्र आहित शस्त्रों को स्थापित कर दिया । उस (अर्जुन) ने, स्वाभाविक सौम्य मूर्ति होने पर भी मारण क्रिया में प्रयुक्त सुरम्य मन्त्र की तरह भयङ्कर आकृति को धारण किया ॥५६॥

अविलङ्घ्यविकर्षणं परैः प्रथितज्यारवकर्म कार्मुकम् ।
अगतावरिदृष्टिगोचरं शितनिस्त्रिंशयुजौ महेषुधी ॥ ५७ ॥

अविलङ्घ्येति । परैः शत्रुभिरविलङ्घ्यमनतिक्रमणीयं विकर्षणं यस्य तत् । अमोघाकर्षणमित्यर्थः । किञ्च प्रथितो ज्यारवो गुणध्वनिः कर्म बाणमोचनादिकं च यस्य तत्कार्मुकं चोद्वहन्नित्यन्वयः । तथाऽरीणां दृष्टिगोचरं दृष्टिपथमगतौ । आहवेष्वनिवर्तिरथादस्येति भावः । निर्गतस्त्रिंशतोऽङ्गुलिभ्यो निस्त्रिंशः खड्गः । डप्रत्यये संख्यायास्तत्पुरुषस्योपसंख्यानात्समासान्तः । तेन शितेन तीक्ष्णेन युक्त इति शितनिस्त्रिंशयुजौ । 'सत्सूद्विष–'इत्यादिना क्विप् । महेषुधी महानिषङ्गौ । इषवो धीयन्तेऽनयोरिति विग्रहः ।'कर्मण्यधिकरणे च' इति क्विप्रत्ययः। 'तूणोपासङ्गतूणीरनिषङ्गा इषुधिर्द्वयोः । तूण्यां खड्गे तु निस्त्रिंशचन्द्रहासासिरिष्टयः' इत्यमरः ॥ ५७ ॥

यशसेव तिरोदधन्मुहुर्महसा गोत्रभिदायुधक्षतीः ।
कवचं च सरत्नमुद्वहञ्ज्वलितज्योतिरिवान्तरं दिवः ॥ ५८ ॥

यशसेति । किञ्च । गोत्रभिद इन्द्रस्यायुधक्षतीर्वज्रप्रहाररन्ध्राणि । खाण्डवदाहसम्भवादिति भावः । महसा स्वकान्त्या यशसेव मूर्तया कीर्त्येव मुहुस्तिरोदधदाच्छादयन् । सरत्नं रत्नसहितमत एव ज्वलितज्योतिर्दीप्ततारकम् । 'ज्योतिस्ताराऽग्निभाज्वालाहक्पुत्रात्मधरासु च' इति वैजयन्ती । दिवोऽन्तरं नभो मध्यमिवावस्थितम् । 'अन्तरं परिधानीये बाह्ये स्वीयेऽन्तरात्मनि । क्लीबे मध्ये प्रकाशे च' इति वैजयन्ती । कवचं चोद्वहन् ॥ ५८ ॥

जब अर्जुन ने गाण्डीव धनुष, दो तरकस और कवच को (यथास्थान) धारण कर लिया उस समय वे आकाशान्तरालवर्ती प्रदीप्त नक्षत्र (तारा) की तरह प्रकाशित हो उठे। शत्रुओं के लिये उनका धनुष अमोघ था। उसकी टङ्कार विश्वविदित थी। उनके तरकस शत्रु की दृष्टि में नहीं आते थे (अर्थात् गुप्त रूप से पीछे की तरफ धारण किये जाते थे जिससे उन पर शत्रुओं की निगाह नहीं पहुँच पाती थी) प्रत्येक निषङ्ग मे तीक्ष्ण खड्ग भी रखा गया था। वे बाणों से कभी रिक्त होने वाले नहीं थे। कवच उनका रत्नों से जड़ा हुआ था। अर्जुन, खाण्डववनदाह के समय इन्द्र के वज्र से होने वाले क्षत को बार २ अपने तेज से आच्छादित कर रहे थे जैसे कोई अपनी कीर्त्ति से आच्छादित कर देता हो ॥ ५७-५८ ॥

अलकाऽधिपभृत्यदर्शितं शिवमुर्वीधरवर्त्म संप्रयान् ।
हृदयानि समाविवेश स क्षणमुद्बाष्पदृशां तपोभृताम् ॥ ५९ ॥

अलकेति। सोऽर्जुनोऽलकाऽधिपभृत्येन यक्षेण दर्शितमतः शिवं निर्बाधमुर्वीधरवर्त्म हिमवन्मार्गं प्रति सम्प्रयान् गच्छन् क्षणमुद्बाष्पदृशां वियोगदुःखात्साश्रुनेत्राणां तपोभृतां द्वैतवननिवासिनां तपस्विनां हृदयानि समाविवेश। खेदयामासेत्यर्थः ॥५९॥

कुबेर के भृत्य (यक्ष) से दिखलाये हुये, निष्कण्टक हिमालय के मार्ग का अवलम्बन करते हुए अर्जुन ने, अश्रुपूर्णनेत्रधारी तपस्वियों (द्वैतवननिवासियों) के हृदय को क्षण भर के लिये दुःखित कर दिया अर्थात् अर्जुन के वियोग से वे सब दुःखी हुए ॥ ५९ ॥

अनुजगुरथ दिव्यं दुन्दुभिध्वानमाशाः
सुरकुसुमनिपातैर्व्योम्नि लक्ष्मीर्वितेने ।
प्रियमिव कथयिष्यन्नालिलिङ्ग स्फुरन्तीं
भुवमनिभृतवेलावीचिबाहुः पयोधिः ॥ ६० ॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये तृतीयः सर्गः ।



अनुजगुरिति। अथाशा दिशः। दिवि भवं दिव्यम्। 'द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत्'। दुन्दुभिध्वानमनुजगुरनुदध्वनुः। गायतेर्लिट्। व्योम्नि सुरकुसुमनिपातैर्लक्ष्मीर्वितेने। पुष्पवृष्टिश्चाजनिष्टेत्यर्थः। किञ्च। अनिभृताश्चञ्चला वेलायां कूले या वीचयस्ता एव बाहवो यस्य स तथोक्तः। 'वेला कूलविकारयोः' इति शाश्वतः। पयोधि स्फुरन्तीं हर्षात्स्पन्दमानां च भुवं प्रियमिष्टं भारावतारणरूपं कथयिष्यन्निव। कथयितुमिवेत्यर्थः। 'लृट् शेषे च' इति चकारात्क्रियार्थायां क्रियायां लृट्। आलिलिङ्ग। सर्वं चेदं शिवं दैवकार्यप्रवृत्तत्वादस्येति भावः। अत्र विशेषणमात्रसाम्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वात्समासोक्तिरलङ्कारः। तत्र चाप्रस्तुतयोर्भूमिसमुद्रयोः प्रतिपन्नाभ्यां नायका-

भेदेऽभेदलक्षणातिशयोक्तिवशादालिङ्गनोक्तिरिति रहस्यम् । एवमतिशयोक्त्यनुप्राणिता समासोक्तिः । प्रियकथनात्स्नेहमुज्जीवयति तदङ्गभावं भजत इत्युभयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्कर इति विवेचनीयम् ॥ ६० ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीयकाव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां तृतीयः सर्गः समाप्तः ॥



अर्जुन के प्रस्थानकाल में स्वर्ग में देवताओं ने दुंदुभि बजायी, जिससे सम्पूर्ण दिशाएँ गूँज (भयंकृत हो) उठीं । देवताओं ने पुष्पवृष्टि की, जिससे आकाशमंडल अलंकृत हो उठा । समुद्र अपनी चञ्चल तरङ्ग रूप भुजाओं से शुभ सन्देश सुनाते हुए की तरह उल्लास से भरी पृथ्वी का आलिङ्गन किया' अर्थात् समुद्र में भी तूफान आ गया ॥ ६० ॥

इस प्रकार 'प्रकाश' व्याख्या में तृतीय सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३ ॥



चतुर्थः सर्गः

ततः स कूजत्कलहंसमेखलां सपाकसस्याहितपाण्डुतागुणाम् ।
उपाससादोपजनं जनप्रियः प्रियामिवासादितयौवनां भुवम् ॥१॥

तत इति । ततः प्रस्थानानन्तरं जनप्रियः सोऽर्जुनः । कलहंसा मेखला इवेत्युपमितसमासः अन्यत्र कलहंसा इव मेखलेति विशेषणसमासः । कूजन्ती कलहंसमेखला यस्यास्ताम् । सह पाकेन वर्तन्त इति सपाकानि सस्यानि तैः सस्यैराहितः संपादितः पाण्डुतैव गुणो यस्यास्तां भुवमासादितयौवनां प्राप्तयौवनां प्रियामिव । उपजनं जनसमीपे । अन्यत्र सखीसमक्षम् । समीपार्थेऽव्ययीभावः । उपाससादोपगतवान् । उपमालङ्कारः ॥ १ ॥

प्रस्थान के बाद लोकप्रिय (अर्जुन) सखियों के समक्ष कलकूजन करते हुए राजहंस की तरह निस्वन (शब्द) कारिणी मेखला (करधनी) धारण की हुई, तथा (युवावस्था को प्राप्त) प्रौढा रमणी की भाँति, मेखला की तरह कलकूजन करने वाले राजहंस जहाँ विचर रहे थे, ऐसी और परिपाक दशा को प्राप्त धान्यराशि के कारण गौरवर्णा भूमि के पास पहुँचे, जहाँ कृषक निवास करते थे ॥ १ ॥

विनम्रशालिप्रसवौघशालिनीरपेतपङ्काः ससरोरुहाम्भसः ।
ननन्द पश्यन्नुपसीम स स्थलीरुपायनीभूतशरद्गुणश्रियः ॥ २ ॥

विनम्रेति । सोऽर्जुनो विनम्रशालिप्रसवौघशालिनीरवनतशालिफलस्तोमशोभि-नीरपेतपङ्का निष्पङ्काः ससरोरुहाण्यम्भांसि यासु तास्तथोक्ताः उपायनीभूता अर्जुनं प्रत्युपहारीभूताः शरद्गुणश्रियः पूर्वोक्ताः शरद्धर्मसंपदो यासु ताः। उपसीम ग्रामसीमासु । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । समासान्तविधेरनित्यत्वात् 'अनश्च' इति समासान्तो न भवति। केचित्तु-'अप्यन्येषां कठिनवपुषां दुर्गमे ग्रामसीम्नि' इत्यादौ नपुंसकप्रयोगदर्शनात् 'नपुंसकादन्यतरस्याम्' इति विकल्पात्साधुरित्याहुः । स्थलीरकृत्रिमा भुवः । 'जानपद-' इत्यादिना अकृत्रिमार्थे ङीप् । पश्यन्ननन्द जहर्ष । अत्र शरद्गुणेषु तादात्म्येनारोप्यमाणस्योपायनस्य प्रकृते नन्दनक्रियोपयोगित्वात्परिणामालङ्कारः ॥२॥

ग्राम की सीमा के समीप के भूमिखंड झुके हुए धान की बालों से सुशोभित हो रहे थे । वहाँ कीचड़ नाममात्र को भी नहीं था । जहाँ कहीं जल था भी वहाँ जल में कमल सुशोभित हो रहे थे । अर्जुन उन सम्पूर्ण शरद् ऋतु की सम्पत्तियों को अपने प्रति उपहार की हुई के समान देखकर प्रसन्न हुए ॥ २ ॥

निरीक्ष्यमाणा इव विस्मयाकुलैः पयोभिरुन्मीलितपद्मलोचनैः ।
हृतप्रियादृष्टिविलासविभ्रमा मनोऽस्य जह्रुः शफरीविवृत्तयः ॥ ३ ॥

निरीक्ष्यमाणा इति । विस्मयाकुलैराश्चर्यरसाविष्टैरत एवोन्मीलितानि पद्मानीव लोचनानि येषां तैः पयोभिरम्भोभिर्निरीक्ष्यमाणा इव स्थिताः । हृतः प्रियादृष्टिविलासानां विभ्रमः शोभा याभिस्तास्तथोक्ता इति मनोहरणे हेतूक्तिः । 'विभ्रमः संशये भ्रान्तौ शोभायां च' इति वैजयन्ती । शफरीविवृत्तयो मत्स्यीस्फुरितान्यस्यार्जुनस्य मनो जह्रुः ॥ ३ ॥

कहीं कहीं जलाशयों में मछलियाँ चिलक रहीं थीं । सरोवर आश्चर्य में पड़कर, विकसित कमल रूप नेत्रों से मानों उसे देख रहा था । (मछलियों की चिलकें) युवतियों के भ्रूविक्षेपपूर्वक दृष्टिपात के विलास का अपहरण कर रही थीं । उन्होंने अर्जुन के मन का भी अपहरण कर लिया ॥ ३ ॥

तुतोष पश्यन्कलमस्य सोऽधिकं सवारिजे वारिणि रामणीयकम् ।
सुदुर्लभे नार्हति कोऽभिनन्दितुं प्रकर्षलक्ष्मीमनुरूपसंगमे ॥

तुतोषेति । सोऽर्जुनः सवारिजे साम्बुजे वारिणि कलमस्य शालिविशेषस्य । 'शालयः कलमाद्याश्च षष्टिकाद्याश्च पुंस्यमी' इत्यमरः । रमणीयस्य भावो रामणीयकम् । 'योपधाद्गुरूपोत्तमाद्वुञ्' । तत्पश्यन्नधिकं तुतोष । अनुरूपसंगमादिति भावः । तथाहि । सुदुर्लभेऽनुरूपसंगमे योग्यसमागमे लब्धे सतीति शेषः । प्रकर्षलक्ष्मीं योग्यसमागमननिमित्तामुत्कर्षसम्पदमभिनन्दितुं स्तोतुं को नार्हति । सर्वोऽप्यभिनन्दत्येवेत्यर्थः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ४ ॥

अर्जुन कमलयुत जल में धान की शोभा का अवलोकन करते हुये इतना प्रसन्न हुए जितना हो सकते थे। दुष्प्राप्य तथा योग्य सम्बन्ध प्राप्त होने पर कौन ऐसा मनुष्य होगा जो उत्कृष्ट सम्पत्ति का स्वागत न करे? ॥ ४ ॥

तुनोद तस्य स्थलपद्मिनीगतं वितर्कमाविष्कृतफेनसंतति।
अवाप्तकिञ्जल्कविभेदमुच्चकैर्विवृत्तपाठीनपराहतं पयः॥ ५॥

तुनोदेति। आविष्कृता प्रकटीकृता फेनसन्ततिर्डिण्डीरसमूहो यस्य तत्तथोक्तम्। 'डिण्डीरोऽब्धिकफः फेनः' इत्यमरः। अवाप्तः किञ्जल्कविभेदः केसरोपगमो येन तत्तथोक्तम्। कुतः। उच्चकैरुच्चकं यथा तथा विवृत्तेन लुठितेन पाठीनेन मत्स्यविशेषेण पराहतं ताडितम्, सहस्रदंष्ट्रः पाठीनः' इत्यमरः। पयः कर्तृ तस्यार्जुनस्य स्थलपद्मिनीगतम्। तद्गोचरमित्यर्थः। वितर्कं संशयं तुनोद चिच्छेद। पाठीनपराहत्या किञ्जल्कापायेन जलदर्शनात्स्थलपद्मिनीशङ्का निवृत्तेत्यर्थः। अत्र निश्चयोत्तरसंदेहालङ्कारः॥

कहीं २ सरोवरों के जल, जिनमें विकचारविन्द (खिले हुए कमल) सुशोभित हो रहे थे, फेन और कमलपराग से आच्छादित थे जिन्हें देख कर अर्जुन को पृथ्वी पर खिले हुये गुलाब के पुष्प का भ्रम हो रहा था। ऊपर की ओर उल्लुण्ठन करते हुये पाठीन (हजार दाँत वाली मछली) से अभिताडित होकर पुष्पपराग और फेनराशि के हट जाने से जल दिखलाई पड़ने लगता था, जिससे अर्जुन का संशयविच्छेद हो गया॥ ५॥

कृतोर्मिरेखं शिथिलत्वमायता शनैः शनैः शान्तरयेण वारिणा।
निरीक्ष्य रेमे स समुद्रयोषितां तरङ्गितक्षौमविपाण्डुसैकतम्॥ ६॥

कृतेति। सोऽर्जुनः शिथिलत्वमायता गच्छता। दिने दिने क्षीयमाणेनेत्यर्थः। अत एव शनैः शनैः शान्तरयेण। अन्यथोर्मिरेखानुदयादिति भावः। वारिणा कृता ऊर्मयः पर्वाण्येव रेखा राजयो यस्य तत्तथोक्तम्। तरङ्गा अस्य संजातास्तरङ्गितं भङ्गितम्। 'तदस्य संजातं—' इतीतच्। यत्क्षौमं दुकूलं तद्वद्विपाण्डु शुभ्रमित्युपमालङ्कारः। समुद्रयोषितां नदीनाम्। सिकतास्यास्तीति सैकतं पुलिनम्। 'सिकताशर्कराभ्यां च' इत्यण्प्रत्ययः। 'तोयोत्थितं तत्पुलिनं सैकतं सिकतामयम्' इत्यमरः। निरीक्ष्य रेमे तुतोष॥ ६॥

क्रमशः क्षीणोन्मुख वेगरहित, जलसे विहित तरङ्ग रेखान्वित और भङ्गिमायुक्त क्षौम वस्त्र के सदृश शुभ्र, सिकताराशि (बालू का ढेर) को देख अर्जुन बहुत प्रसन्न हुए॥ ६॥

ततस्त्रिभिः शालिगोप्त्रीं वर्णयति—

मनोरमं प्रापितमन्तरं भ्रुवोरलंकृतं केसररेणुनाणुना।
अलक्तताम्राधरपल्लवश्रिया समानयन्तीमिव बन्धुजीवकम्॥ ७॥

मनोरममिति । अणुना सूक्ष्मेण केसरेषु किञ्जल्केषु । 'किञ्जल्कः केसरोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । यो रेणुः परागस्तेनालंकृतमत एव मनो रमयतीति मनोरमम् । 'कर्मण्यण्' इत्यण् । भ्रुवोरन्तरं प्रापितं भ्रूमध्ये निवेशितं बन्धुजीवकं बन्धूकपुष्पम् । 'बन्धूको बन्धुजीवकः' इत्यमरः । अलक्तताम्रस्य लाक्षारागरक्तस्याधरपल्लवस्य श्रिया शोभया समानयन्तीं समीकुर्वतीमिव । साम्यपरीक्षां कुर्वतीमिवेत्यर्थः । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥७॥

(कवि आगे आये हुए तीन श्लोकों से धान की रक्षा करने वाली स्त्रियों का वर्णन करता है :-) धान की रक्षा में लगी हुई स्त्रियों ने सूक्ष्म केशरकिञ्जल्क (पराग) से जपापुष्प को विभूपित करके भौंहों के मध्य में चिपका दिये थे, वे मनोभिराम दिखलाई पड़ते थे। उसे यावक (महावर) की लालिमा से रञ्जित अधर पल्लव की शोभा से मानो वे तुलना कर रही हैं (ऐसा मालूम पड़ता था) ॥ ७ ॥

नवातपालोहितमाहितं मुहुर्महानिवेशौ परितः पयोधरौ ।
चकासयन्तीमरविन्दजं रजः परिश्रमाम्भःपुलकेन सर्पता ॥ ८ ॥

नवेति । महान्निवेशः स्थानं ययोस्तौ महानिवेशौ । पीवरावित्यर्थः । पयोधरौ परितः । स्तनयोः समन्तादित्यर्थः । 'अभितःपरितःसमयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि' इति द्वितीया । मुहुराहितं नवातपालोहितं बालातपताम्रमरविन्दजं रजः परागं सर्पता प्रसरता परिश्रमाम्भःपुलकेन स्वेदोद्भेदेन चकासयन्तीं शोभयन्तीम् । चकास्तेर्ण्यन्ताच्छतरि ङीप् । अलङ्करणं कुर्वतीम् । तत्रापि विकृततेति भावः ॥ ८ ॥

वे (शालिगोप्त्री) स्त्रियाँ अपने पीन पयोधरों (स्तनों) में प्रातःकालीन आतप के समान किञ्चित लालिमा लिये कमलपुष्पपराग लगाये हुई थीं । वे उस पुष्पधूलि को बहते हुए स्वेदबिन्दुओं से सुशोभित कर रही थीं ॥ ८ ॥

कपोलसंश्लेषि विलोचनत्विषा विभूषयन्तीमवतंसकोत्पलम् ।
सुतेन पाण्डोः कलमस्य गोपिकां निरीक्ष्य मेने शरदः कृतार्थता ॥९॥

कपोलेति । पुनः कपोलसंश्लेषि यदवतंसकोत्पलं कर्णोत्पलं तद्विलोचनत्विषा विभूषयन्तीम् । आभरणस्याप्याभरणमिति भावः । कलमं गोपायतीति गोपिकां शालिगोप्त्रीम् । ण्वुल्प्रत्ययः । निरीक्ष्य पाण्डोः सुतेनार्जुनेन । शरदः कृतार्थाया भावः कृतार्थता साफल्यम् । शरदः स्वगुणसम्पत्सिद्धिनियोगलाभादिति भावः । 'त्वतलोर्गुणवचनस्य पुंवद्भावो वक्तव्यः' । मेनेऽमानि । मन्यतेः कर्मणि लिट् ॥ ९ ॥

वे (शस्यपालिकायें) अपने नेत्र की कान्ति से कपोल (गाल) तक लटकते हुये कर्णोत्पलों को अलङ्कृत करती थीं (भूषण को भूषित करती थीं) शस्य क्षेत्र की रक्षा करने वाली उन स्त्रियों को देखकर, पाण्डव ने शरद् ऋतु को सफल माना ॥ ९ ॥

उपारताः पश्चिमरात्रिगोचरादपारयन्तः पतितुं जवेन गाम् ।
तमुत्सुकाश्चक्रुरवेक्षणोत्सुकं गवां गणाः प्रस्नुतपीवरौधसः ॥ १० ॥

उपारता इति । पश्चिमा चासौ रात्रिश्चेति विशेषणसमासः । अपररात्र इत्यर्थः । 'पूर्वा दिक्पश्चिमं नभः' इत्यादिवदेकदेशिशब्दस्यैकदेशशब्दसामानाधिकरण्यादेकदेशे पर्यवसानम्, नतु पश्चिमं रात्रेरित्येकदेशिसमासः । तद्विषयके पूर्वापरादिसूत्रे पश्चिमशब्दाग्रहणात् । अत एव 'अहः सर्वैकदेश–'इत्यादिना न समासान्तोऽपि । तस्यापि पूर्वापरादिसूत्रोक्तसमासविषयत्वादिति । प्रकाशवर्षस्तु एकदेशिसमासमेवाश्रित्य समासान्तमाह, तन्मृग्यम् । गावश्चरन्त्यत्रेति गोचरो गवां जग्धिस्थानं वनम् । पश्चिमरात्रौ यो गोचरस्तस्मादुपारताः संनिवृत्ता जवेनगां भुवं पतितुं धावितुमपारयन्तोऽशक्नुवन्तः प्रस्नुतपीवर सो वत्सस्मरणात्स्रवत्पीनापीनाः । 'ऊधस्तु क्लीबमापीनम्' इत्यमरः । 'ऊधसोऽनङ्' इति स्त्रीग्रहणं कर्तव्यमिति नियमान्नानङादेशः । उत्सुका वत्सेपूत्कण्ठिता गवां गणास्तमर्जुनमवेक्षणोत्सुकं दर्शनलालसं चक्रुः । 'स्वर्गेषुपशुवाग्वज्रदिङ्नेत्रघृणिभूजले । लक्ष्यदृष्टथा स्त्रियां पुंसि गौः' इत्युभयत्राप्यमरः । अत्र स्वभावोक्तिरलङ्कारः—'स्वभावोक्तिरलङ्कारो यथावद्वस्तुवर्णनम्' इति लक्षणात् ॥ १० ॥

गायें रात के पिछले पहर में चरागाह से लौटते समय, वेग से पृथ्वी पर दौड़ नहीं सकतीं थीं क्योंकि वे अपने-अपने बच्चों का स्मरण करके उत्कण्ठित हो गई थीं जिसके कारण उनके पीन पयोधरों से (बड़े-बड़े थनों से) क्षीर बह रहे थे। वे अर्जुन को अपनी तरफ देखने में समुत्कण्ठित कर दीं (अर्थात् उन्हें देखने के लिये अर्जुन को प्रबल लालसा हुई) ॥ १० ॥

परीतमुक्षावजये जयश्रिया नदन्तमुच्चैः क्षतसिन्धुरोधसम् ।
ददर्श पुष्टिं दधतं स शारदीं सविग्रहं दर्पमिवाधिपं गवाम् ॥ ११ ॥

परीतमिति । सोऽर्जुन उक्षावजये उक्षान्तरभङ्गे सति जयश्रिया परीतं वेष्टितमुच्चैर्नदन्तं क्षतसिन्धुरोधसं रुग्णसरित्तटं शरदि भवां शारदीं पुष्टिमवयवोपचयं दधतं गवामधिपं महोक्षं सविग्रहं मूर्तिमन्तम् । 'कायो देहः क्लीबपुंसोः शरीरं वर्ष्म विग्रहः' इत्यमरः । दर्पमिवेत्युत्प्रेक्षा । ददर्श ॥ ११ ॥

अर्जुन ने देखा—एक महान् वृषभ अन्य वृषभ के साथ युद्ध करके उसे पराजित कर, विजय लाभ कर गम्भीर गर्जन करता हुआ नदी के तट को ढहा रहा था। वह गायों का राजा अत्यन्त हृष्टपुष्ट मानों साक्षात् दर्प ही महोक्ष के रूप में उपस्थित हुआ था ॥ ११ ॥

विमुच्यमानैरपि तस्य मन्थरं गवां हिमानीविशदैः कदम्बकैः ।
शरन्नदीनां पुलिनैः कुतूहलं गलद्दुकूलैर्जघनैरिवादधे ॥ ११ ॥

विमुच्यमानैरिति । हिमानीविशदैर्हिमसंघातशुभ्रैः। 'हिमानी हिमसंहतिः' इत्यमरः 'इन्द्रवरुण–' इत्यादिना ङीप्। तत्संनियोगादानुगागमश्च। गवां कदम्बकैः कर्तृभिः। 'कदम्बकं समूहे श्रीफले पुष्पविशेषके' इत्यमरः। मन्थरं मन्दं विमुच्यमानैरपि किमुताविमुच्यमानैरिति भावः। शरन्नदीनां सम्बन्धिभिः। शरद्ग्रहणं प्रावृण्निवृत्त्यर्थम्, तत्र पुलिनादर्शनादिति भावः। पुलिनैः कर्तृभिः गलद्दुकूलैर्जघनैरिव तस्यार्जुनस्य कुतूहलं कौतुकमादध आहितम् ॥ १२ ॥

बरफ़ की चट्टान के समान सफेद गायों के झुण्ड धीरे-धीरे शरद काल की नदी के वालुकामय ढेर को छोड़ते हुवे चले जारहे थे, उन्हें देख कर अर्जुन को ऐसा कुतूहल उत्पन्न हुआ जैसा कि रमणी के जघन प्रदेश से सरकती हुई सारी के समय किसी (कामुक) व्यक्ति को होता है ॥ १२ ॥

गतान्पशूनां सहजन्मबन्धुतां गृहाश्रयं प्रेम वनेषु बिभ्रतः ।
ददर्श गोपानुपधेनु पाण्डवः कृतानुकारानिव गोभिरार्जवे ॥ १३ ॥

गतानिति । पाण्डवोऽर्जुनः पशूनां गवाम्। सह जन्म येषां ते सहजन्मानः सोदरास्त एव बन्धवस्तेषां भावस्तत्ता तां गतान्। पशुषु सोदराभिमानवत इत्यर्थः। गृहाश्रयं गृहविषयं प्रेम वनेषु बिभ्रतः। वनेषु गृहाभिमानिन इत्यर्थः। आर्जवे विधेयत्वे गोभिः पशुभिः कृतानुकाराननुकृतानिव स्थितानित्युत्प्रेक्षा। ततो विधेयानित्यर्थः। गाः पान्तीति गोपा गोपालकाः। 'अतोऽनुपसर्गे कः' इति कप्रत्ययः। तानुपधेनु धेनुसमीपे। समीपार्थेऽव्ययीभावः। ददर्श। अत्रोत्प्रेक्षानुप्राणिता स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥ १३ ॥

अर्जुन ने गायों के पास अहीरों (गोपालकों) को देखा। वे साथ-साथ जन्म लेने के कारण गायों के (उनके) कुटुम्बी बन गये थे। उन्हें वन घर से भी अधिक प्यारा था। स्वभाव की कोमलता (भोलापन) तो वे मानों गायों से सीख रहे थे ॥ १३ ॥

अथ चतुर्भिर्वल्लवीनर्तकीसाम्येन वर्णयति—

परिभ्रमन्मूर्धजषट्पदाकुलैः स्मितोदयादर्शितदन्तकेसरैः ।
मुखैश्चलत्कुण्डलरश्मिरञ्जितैर्नवातपामृष्टसरोजचारुभिः ॥ १४ ॥

परिभ्रमदिति । मूर्धजाः षट्पदा इवेत्युपमितसमासः। सरोजचारुभिरित्युपमानुसारात्। परिभ्रमद्भिश्चलद्भिर्मूर्धजैः षट्पदैराकुलानि तैः। दन्ताः केसरा इवेति पूर्ववत्समासः। स्मितोदयेनादर्शिता ईषत्प्रकाशिता दन्तकेसरा येषां तैस्तथोक्तैः। चलत्कुण्डलरश्मिरञ्जितैश्चलत्कनककर्णवेष्टनप्रभानुलिप्तैरत एव नवातपामृष्टं बालातपस्पृष्टं यत्सरोजं तद्वच्चारुभिर्मुखैरुपलक्षिताः ॥ १४ ॥

अर्जुन नृत्य करती हुई वारवधूटियों की भाँति गोपिकाओं को निर्निमेष दृष्टि से देखने लगे।

उन गोपियों के मुखमण्डलपर बिखरे (बिथुरे) हुए केश कलाप भ्रमरों की तरह दिखलाई पड़ते थे। मन्द हास से पुष्प पराग की तरह दशन पङ्क्तियाँ दिखलाई पड़ती थीं, हिलते हुए कानके कुण्डलों की दीप्ति से उनका मुख मण्डल चमक रहा था और प्रभात काल से सूर्य्य की किरणों से विकसित कमल की शोभा को प्राप्त हो रहा था। (इस श्लोक में मुख की उपमा कमल से दी गई है। दाँत को कमल का केशर माना गया है। ग्वालिनियों के केश को कमल पर घूमने वाले भ्रमर की उपमा दी गई है)॥ १४ ॥

निबद्धनिःश्वासविकम्पिताधरा लता इव प्रस्फुरितैकपल्लवाः ।
व्यपोढपार्श्वैरपवर्तितत्रिका विकर्षणैः पाणिविहारहारिभिः ॥ १५ ॥

निबद्धेति। निबद्धनानुरुद्धेन निःश्वासेन विकम्पिता अधरा यासां तास्तथोक्ताः। अत एव प्रस्फुरितैकपल्लवाः। प्रचलितैकपल्लवाः इत्यर्थः। 'क्वचित्सङ्ख्याशब्दस्य वृत्तिविषये वीप्सार्थत्वं सप्तपर्णादिवत्' इति कैयटः। लता इव स्थिताः। दैवादेकपल्लवस्फुरणस्यापि लोके सम्भवादुपमैवेयं नोत्प्रेक्षा। किंच। व्यपोढानि विपरीतानि पार्श्वानि येषु तैः पाणिविहारहारिभिः पाणिविक्षेपमनोहरैः। 'अङ्गहारोऽङ्गविक्षेपः' इत्यमरः। विकर्षणैर्मन्थगुणाकर्षणैरपवर्तितत्रिकाः संचलितनितम्बाः। यद्यपि 'पृष्ठवंशाधरे त्रिकम्' इत्यमरः, तथाप्यत्र नितम्बो लक्ष्यते तत्रैकत्वादिति भावः॥ १५ ॥

दधि मन्थन कार्य्य में लगी हुई उन ग्वालिनियों के होठ (अधर) श्वास के रुक जाने से प्रकम्पित हो रहे थे, उससे वे, उस लता के सदृश मालूम पड़ती थीं जिसका एकही पत्ता किसी तरह हिलगया हो। हाथों से मन्थन के दण्ड के सञ्चालन से उनका पार्श्व प्रदेश विवृत दिखलाई पड़ रहा था। और उनके नितम्ब भी दुलक रहे थे॥ १५ ॥

व्रजाजिरेष्वम्बुदनादशङ्किनीः शिखण्डिनामुन्मदयत्सु योषितः ।
मुहुः प्रणुन्नेषु मथां विवर्तनैर्नदत्सु कुम्भेषु मृदङ्गमन्थरम् ॥१६॥

व्रजेति। व्रजाजिरेषु गोष्ठप्राङ्गणेषु। अधिकरणे सप्तमी। 'व्रजो गोष्ठाध्ववृन्देषु' इति विश्वः। अम्बुदनादशङ्किनीर्गर्जितभ्रमवतीरिति भ्रान्तिमदलङ्कारः। शिखण्डिनां योषितो मयूराः। योषिद्ग्रहणं मौग्ध्यातिशयार्थम्। उन्मदयत्सून्मदाः कुर्वत्सु। 'तत्करोति–' इति ण्यन्ताच्छतृप्रत्ययः। मथां मन्थनदण्डानाम्। 'वशाखमन्थमन्थानमन्थानो मन्थदण्डके' इत्यमरः। विवर्तनैः परिभ्रमणैर्मुहुः प्रणुन्नेषु कम्पितेष्विति स्वभावोक्तिः। कुम्भेषु कलशेषु मृदङ्गवन्मन्थरं मन्दं नदत्सु सत्स्विति वाद्यसाम्योक्तिः। भावलक्षणे सप्तमीयम्॥ १६ ॥

अहीर टोलियों में मन्थनदण्डों के घूमने से (वे घड़े, जिनमें दधि विलोडन की जाती थी) दधि भाण्ड मृदङ्ग के सदृश मधुर ध्वनि करते हुए, मयूरियों को मेघ गर्जन का भ्रम उत्पन्न कर उन्मादित कर रहे थे॥ १६ ॥

स मन्थरावल्गितपीवरस्तनीः परिश्रमक्लान्तविलोचनोत्पलाः ।
निरीक्षितुं नोपरराम बल्लवीरभिप्रनृत्ता इव वारयोषितः ॥ १७ ॥

स इति । मन्थरं मन्दमावल्गिताश्चञ्चलाः पीवराः स्तना यासां तास्तथोक्ताः । 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्' इति ङीप् । परिश्रमेण क्लान्तानि ग्लानानि विलोचनोत्पलानि यासां तास्तथोक्ता बल्लवीर्गोपीः । 'गोपे गोपालगोसङ्ख्यगोधुगाभीरबल्लवाः' इत्यमरः । अभिप्रनृत्ता नृत्यन्तीः । 'गत्यर्थाकर्मक-' इत्यादिना कर्तरि क्तः । 'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' इति चकाराद्वर्तमानार्थत्वम् । वारयोषितो वेश्या इव । 'वारस्त्री गणिका वेश्या' इत्यमरः । सोऽर्जुनो निरीक्षितुम् । ईक्षतेस्तुमुन् । नोपरराम न विरमति स्म । 'उपाच्च' । 'विभाषाकर्मकात्' इति परस्मैपदम् । अत्र चतुःश्लोक्यामुपमास्वभावोक्त्योः संसृष्टिः ॥ १७ ॥

गोपिकाओं के स्थूल स्तन (दधिमन्थन करते समय) थिरक रहे थे परिश्रम से थक कर उनकी आँखे अलसा रहीं थीं । (ऐसी गोपललनाओं को नृत्त क्रिया में लीन वेश्याओं की तरह देखने में अर्जुन का मन निवृत्त न हुआ ॥ १७ ॥

पपात पूर्वां जहतो विजिह्मतां वृषोपभुक्तान्तिकसस्यसम्पदः ।
रथाङ्गसीमन्तितसान्द्रकर्दमान्प्रसक्तसंपातपृथक्कृतान्पथः ॥ १८ ॥

पपातेति । सोऽर्जुनः पूर्वां प्रावृषेण्यां विजिह्मतां वक्रतां जहतस्त्यजतः । शरदि निष्पङ्कत्वेन समरेखस्यैव सुगमत्वादिति भावः । जहातेः शतृप्रत्ययः । वृषोपभुक्तान्तिकसस्यसंपदो वृषभचर्वितप्रान्तसस्यसमृद्धीन् । 'सुकृते वृषभे वृषः' इत्यमरः । सीमन्ता इव सीमन्ताश्चक्राङ्गपद्धतयः सीमन्तवन्तः कृताः सीमन्तिताः । मत्वन्ताद 'तत्करोति' इति णिचि क्तः । णाविष्ठवद्भावान्मतुपो लुक् । रथाङ्गैश्चक्रैः सीमन्तिताः सान्द्राः कर्दमा घनीभूताः पङ्का येषु तान्प्रसक्तसंपातेन संततसञ्चारेण पृथक्कृतान्पथो मार्गान्पपात जगामेति स्वभावोक्तिः ॥ १८ ॥

अर्जुन जिन-जिन मार्गों का अवलम्बन करके जारहे थे वे सम्पूर्ण मार्ग जो वर्षा के कारण टेढ़े मेढ़े हो गये थे सीधे और सुगम बन गये थे । उनके दोनों बगल के खेतों के धान्यों को बैलों ने भक्षण कर डाला था । गाड़ियों के पट्टियों के चलने से मार्ग में कहीं-कहीं कीचड़ जम गये थे । लोगों के सतत आने जाने से सब मार्ग स्पष्ट दिखलाई पड़ते थे ॥ १८ ॥

जनैरुपग्राममनिन्द्यकर्मभिर्विविक्तभावेङ्गितभूषणैर्वृताः ।
भृशं ददर्शाश्रममण्डपोपमाः सपुष्पहासाः स निवेशवीरुधः ॥ १९ ॥

जनैरिति । सोऽर्जुन उपग्रामं ग्रामेषु । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । अनिन्द्यकर्मभिरनिषिद्धवृत्तिभिः । वृत्तिश्चैकत्र कृष्यादिरन्यत्र शिलोञ्छादिः । विविक्तान्येकाग्राणि भावोऽभिप्राय इङ्गितं चेष्टा भूषणमलङ्कारश्च येषां तैस्तथोक्तैर्जनैर्वृताः । अधिष्ठिता इत्यर्थः ।

अत एवाश्रमेषु मुनिस्थानेषु ये मण्डपास्तदुपमाः । 'मण्डपोऽस्त्री जनाश्रयः' इत्यमरः। सपुष्पहासाः पुष्पविकाससहिताः । 'तेन सह–' इत्यादिना बहुव्रीहिः । निवेशवीरुधो गृहगुल्मिनीः । 'वीरुधौ वल्लिगुल्मिन्यौ' इति वैजयन्ती । भृशं सादरं ददर्श। उपमाऽलङ्कारः ॥ १९ ॥

जाते समय मार्ग में जो २ ग्राम पड़ते थे, अर्जुन ने सबका निरीक्षण किया । गाँव के प्रत्येक घरों के लता कुञ्ज, जिनमें पुष्प विकसित होरहे थे और लता कुञ्ज ग्रामनिवासियों से, (जिनके, आचार, विचार, वेष भूषा तथा हाव और भाव सब व्यक्त थे), अधिष्ठित होकर मण्डप के समान सुन्दर प्रतीत होते थे ॥ १९ ॥

ग्राम निवासियों से अधिष्ठित वे, आश्रम में बने हुए मंडप की शोभा धारण कर रहे थे । उन (ग्राम निवासियों) के कर्म शुद्ध थे । उनके भाव, चेष्टा और आभरणादि उनके कर्म के द्योतक थे, उन्हें अर्जुन ने बार २ अवलोकन किया ॥ १९ ॥

ततः स संप्रेक्ष्य शरद्गुणश्रियं शरद्गुणालोकनलोलचक्षुषम् ।
उवाच यक्षस्तमचोदितोऽपि गां न हीङ्गितज्ञोऽवसरेऽवसीदति ॥ २० ॥

तत इति । ततः स पूर्वोक्तो यक्षः शरद्गुणश्रियं संप्रेक्ष्य । दर्शनीया वर्णनीया च विस्तार्येत्यर्थः । शरद्गुणालोकने लोलचक्षुषं सतृष्णदृष्टिम् । 'लोलश्चलसतृष्णयोः' इत्यमरः । तमर्जुनमचोदितोऽप्यपृष्टोऽपि गां वाचमुवाच । तथाहि । इङ्गितज्ञो भावज्ञः । 'इङ्गितं हृद्गतो भावः' इति विश्वः । अवसर उक्तियोग्ये काले नावसीदति न वाचं यच्छति । 'नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्' इति निषेधस्त्वनाकाङ्क्षितोक्तिविषय इति भावः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ २० ॥

उस यक्षने शरत्काल के गुणों की शोभा देख कर, शरत्काल की शोभा देखने में संसक्त नेत्र, अर्जुन से बिना कुछ पूछे ही बोला क्योंकि अभिप्राय का ज्ञाता व्यक्ति समय पर कभी नहीं चूकता । अर्थात् यक्ष अर्जुन के मनोगत भाव को समझ कर उनसे वार्तालाप करने के लिये कुछ कहा ॥ २० ॥

इयं शिवाया नियतेरिवायतिः कृतार्थयन्ती जगतः फलैः क्रियाः ।
जयश्रियं पार्थ ! पृथूकरोतु ते शरत्प्रसन्नाम्बुरनम्बुवारिदा ॥ २१ ॥

इयमिति । हे पार्थ, शिवायाः कल्याणकारिण्या नियतेः । 'दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यं स्त्री नियतिर्विधिः' इत्यमरः । शुभावहदैवस्यायतिः फलदानकालः सेव जगतः क्रिया कृष्यादिकर्माणि फलैर्लाभैः । 'लाभो निष्पत्तियोगेषु बीजभावे घने फलम्' इति वैजयन्ती । कृतार्थयन्ती सफलयन्ती प्रसन्नाम्बुर्निर्मलोदकाऽनम्बुवारिदा निर्जलमेघा । अनेन विशेषणद्वयेन द्यावापृथिव्योरानुकूल्यं सूचयति । इयं शरत्ते जयश्रियं पृथूकरोतु । आशीरर्थे लोट् ॥ २१ ॥

यह शरदृतु मङ्गलमय भाग्य के फल दान का काल है । 'यह संसार के सम्पूर्ण क्रियाओं को फल प्रदान करके सफल बनाती है । इस ऋतु में जल निर्मल हो जाता है । बादल भी जलहीन हो जाते हैं । हे पृथापुत्र ! यह शरत्काल आपको जयश्री से सुशोभित करे । इदानीं आपके विजय की अनुकूलता भी प्रतीत होती है ॥ २१ ॥

उपैति सस्यं परिणामरम्यता नदीरनौद्धत्यमपङ्कतां मही ।
नवैर्गुणैः संप्रतिः संस्तवस्थिरं तिरोहितं प्रेम घनागमश्रियः ॥ २२ ॥

उपैतीति । सस्यं व्रीह्यादिकं परिणामेन परिपाकेन या रम्यता सोपैति । नदीरनौद्धत्यं रम्यरूपत्वमुपैति । मही चापङ्कतां निष्पङ्कत्वमुपैति । तथाहि । संप्रति नवैर्गुणैः पूर्वोक्तैः शरद्धर्मैः संस्तवेन परिचयेन स्थिरं दृढमपि घनागमश्रियः प्रावृड्लक्ष्म्याः संबन्धि । तद्विषयमित्यर्थः । प्रेम तिरोहितम् । निरर्थकं कृतमित्यर्थः । गुणतन्त्राः प्रेमाणो न परिचयतन्त्रा इति भावः । वास्तवालङ्कारः ॥ २२ ॥

(इस शरदृतु में) धान्य परिपाक से सुरम्य प्रतीत होते हैं । नदी अपनी उदारता का परित्याग कर देती है अर्थात् वर्षा काल में नदी प्रबल वेग के कारण महान् अनर्थ कर डालती है कहीं पेड़ों को उखाड़ डालती है; कहीं तटों को ढहा देती है; कहीं किसी को अपनी धारा में विलीन कर देती है यही नदी का औद्धत्य है सबका परित्याग कर नदी शान्त वेग धारण कर लेती है पृथ्वी पर कीचड़ नाम मात्र को नहीं रह जाता है । वर्षा काल के सुखों से परिचित होने वालों का प्रेम जो परिचय के कारण दृढ़ रहता है उसे भी शरदृतु अपने नवीन गुणों से आच्छादित कर देता है ॥ २२ ॥

पतन्ति नास्मिन्विशदाः पतत्रिणो धृतेन्द्रचापा न पयोदपङ्क्तयः ।
तथापि पुष्णाति नभः श्रियं परां न रम्यमाहार्यमपेक्षते गुणम् ॥२३॥

पतन्तीति ॥ अस्मिन्नभसि विशदाः पतत्रिणो बलाका न पतन्ति न प्रसरन्ति । धृतेन्द्रचापाः पयोदपङ्क्तयश्च न पतन्ति । तथापि श्रीकारणाभावेऽपि नभः परां श्रियं शोभां पुष्णाति । तथाहि । रम्यं स्वभावसुन्दरं वस्त्वाहार्यमारोप्यमाणं गुणं नापेक्षते । तत्र स्वभावस्यैव समर्थत्वादिति भावः । अर्थान्तरन्यासः ॥ २३ ॥

वर्षा काल में स्वच्छ (सफेद) बकों (बगुलों) की पँक्तियाँ और इन्द्रधनुष ऋतु की शोभा बढ़ाते हैं (इस शरदृतु में न तो सफेद बगुले ही आसमान में उड़ने हैं और न मेघमालायें इन्द्रधनुष से सुशोभित होती हैं तथापि यह) शरदृतु आकाश की सर्वोत्तमरमणीयता को पुष्ट कर रही है जो स्वाभाविक सुन्दर वस्तु और आलङ्कारिक सामग्रियों की अपेक्षा नहीं रखता ॥ २३ ॥

विपाण्डुभिर्ग्लानतया पयोधरैश्च्युताचिराभागुणहेमदामभिः ।
इयं कदम्बानिलभर्तुरत्यये न दिग्वधूनां कृशता न राजते ॥ २४ ॥

विपाण्डुभिरिति। कदम्बानिलशब्देन वर्षर्तुरुपलक्ष्यते। स एवं भर्ता तस्यात्यये विरहे म्लानतया निर्जलतया दुर्बलतया च विपाण्डुभिश्च्युतानि रहितान्यचिराभा-गुणा विद्युल्लता एव हेमदामानि सुवर्णसूत्राभरणानि येभ्यस्तैः पयोधरैरम्भोदैः, अन्यत्र स्तनैः। उपलक्षितानाम्। 'स्तनाम्भोदौ पयोधरौ' इति वैजयन्ती। दिश एव वध्वस्तासामियं कृशता न राजत इति न। किंतु राजत एव वियुक्तत्वात्। 'आर्तार्ते मुदिते हृष्टा प्रोषिते मलिना कृशा' इति स्मरणादिति भावः। सामान्यतः प्रसक्त-त्वराजनं कार्श्यस्यैकेन नञा संभाव्य द्वितीयेन निषेधति। यथाह वामनः—'संभाव्य-निषेधनिवर्तने द्वौ प्रतिषेधौ' इति। अत्र रूपकालङ्कारः स्फुट एव ॥ २४ ॥

वर्षाऋतु रूप पति के चले जाने पर, यह दिक् सुन्दरियों की कृशता (दुर्बलता) निर्जलता रूप खिन्नता से विद्युल्लता रूप सुवर्ण सूत्र विनिर्मित भूषणों से रहित होकर भी मेघ रूप स्तनमण्डलों से क्या नहीं सुशोभित होती है ? किन्तु सुशोभित होती है। (इस पद्य में कवि वर्षाऋतु को पति माना है; दिशाओं को स्त्री माना है और मेघ को स्तन माना है बिजुली को सुवर्ण का आभूषण माना है। अर्थात् पति के विरह में स्त्रियाँ दुर्बल हो जाती हैं, उपभोग के कारण स्तन म्लान हो जाते हैं गौरवर्ण पयोधर मण्डल से, जिन पर स्वर्ण के आभूषण भी न हों, स्त्रियों की खिन्नता भी उनकी शोभा की वृद्धि करती है।

उसी तरह इस शरदृतु में भी वर्षा ऋतु के बीत जाने पर निर्जल मेघ जो थोड़ी पीतिमा लिये धवल वर्ण के हैं और उनकी बिजुली की चमक अवशेष हो गई है अब उनसे दिशायें सुशोभित नहीं होती हैं ऐसा नहीं उनकी शोभा और बढ़ गई है) ॥ २४ ॥

विहाय वाञ्छामुदिते मदात्ययादरक्तकण्ठस्य रुते शिखण्डिनः।
श्रुतिः श्रयत्युन्मदहंसनिःस्वनं गुणाः प्रियत्वेऽधिकृता न संस्तवः ॥२५॥

विहायेति। मदात्ययान्मदक्षयादरक्तकण्ठस्याश्राव्यस्वरस्य कण्ठशब्देनात्र तद्-गतः स्वरो लक्ष्यते। शिखण्डिनो मयूरस्य संबन्धिन्युदित उच्चैस्तरे रुते कूजिते वाञ्छां विहाय। श्रुतिः श्रोत्रम्। 'कर्णशब्दग्रहौ श्रोत्रं श्रुतिः स्त्री श्रवणं श्रवः' इत्यमरः। उन्म-दहंसनिःस्वनं मत्तमरालकूजितं श्रयति भजते। नन्वकाण्डे परिचितपरिहारेणापरिचिते कथं प्रीत्युदय इत्याशङ्क्यार्थान्तरं न्यस्यति—गुणा इति। प्रीणातीति प्रियः। 'इगु-पधज्ञाप्रीकिरः कः' इति कप्रत्ययः। प्रियत्वे प्रीतिकरत्वे गुणा अधिकृता नियुक्ताः। संस्तवः परिचयो नाधिकृतो न समर्थः। प्रेमाधाने गुणत्वं प्रयोजकं न परिचय इत्यर्थः॥

इसमें (शरदृतु में) वर्षा काल के बीत जाने पर मयूरों (मोर) का मद क्षीण हो जाता है अतः उनकी वाणी कर्ण कटु प्रतीत होती है जब कभी इस ऋतु में ये बोलते हैं तब कान उससे निस्पृह हो मदोन्मत्त हंसो की ध्वनि श्रवण करते हैं। मन के प्यारे होने में गुण ही कारण है जिसमें अधिक गुण होगा वही प्रिय होगा चिरपरिचित कोई वस्तु नहीं है ॥ २५ ॥

अमी पृथुस्तम्बभृतः पिशङ्गतां गता विपाकेन फलस्य शालयः ।
विकासि वप्राम्भसि गन्धसूचितं नमन्ति निघ्रातुमिवासितोत्पलम् ॥२६॥

अमी इति । अमी पृथून्स्तम्बान्गुच्छान्बिभ्रतीति पृथुस्तम्बभृतः । 'स्तम्बो गुच्छस्तृणादिनः' इत्यमरः । फलस्य प्रसवस्य विपाकेन परिमाणेन पिशङ्गतां गताः शालयो व्रीहिविशेषाः । वप्राम्भसि केदारोदके । 'पुंनपुंसकयोर्वप्रः केदारः क्षेत्रम्' इत्यमरः । विकसतीति विकासि विकसितं गन्धेन सूचितं ज्ञापितमसितोत्पलं निघ्रातुमाघ्रातुमिव नमन्ति । 'निध्यातुमिव' इति पाठे द्रष्टुमित्यर्थः । निर्वर्णयितु वा । 'निर्वर्णनं तु निध्यानं दर्शनालोकनेक्षणम्' इत्यमरः । अत्र फलभारान्नमनस्य निघ्राणफलकत्वमुत्प्रेक्ष्यत इति फलोत्प्रेक्षा ॥ २६ ॥

ये, फल के परिपाक से पीतिमा धारण करने वाले, लच्छेदार धान के पौधे, सजल क्षेत्रों में माना प्रफुल्ल, सुरम्य-गन्ध-सम्पन्न, नील कमल को सूँघने के लिये झुक रहे हैं ॥ २६ ॥

अथ चतुर्भिः कलापकमाह—

मृणालिनीनामनुरञ्जितं त्विषा विभिन्नमम्भोजपलाशशोभया ।
पयः स्फुरच्छालिशिखापिशङ्गितं द्रुतं धनुष्खण्डमिवाहिविद्विषः ॥२७॥

मृणालिनीनामिति । मृणालिनीनां पद्मिनीनां त्विषा हरिद्वर्णेनानुरञ्जितम् । तद्वर्णतामापादितमित्यर्थः । तथाम्भोजपलाशशोभया पद्मदलकान्त्या । आरुण्येनेत्यर्थः । विभिन्नं मिश्रितम् । तथा स्फुरच्छालिशिखापिशङ्गितं स्फुरद्भिः कलमाग्रैः पिङ्गलीकृतमित्थं नानावर्णत्वाद् द्रुतंपलायितमहिविद्विषो वृत्रशत्रोरिन्द्रस्य । 'सर्पे वृत्रासुरेऽप्यहिः' इति वैजयन्ती । धनुष्खण्डमिव स्थितम् । 'निस्थ समासेऽनुत्तरपदस्थस्य' इति विसर्जनीयस्य षत्वम् । पयो वप्राम्भोऽपदिश्य व्याजीकृत्य धावतामित्यागामिना संबन्धः । अत्र धनुष्खण्डस्य द्रुतस्य लोकेऽप्रसिद्धत्वादुत्प्रेक्षेयं नोपमा ॥ २७ ॥

जल, कमलिनी लता की कान्ति से (हरिद्वर्ण से) विशोभित; तथा कमल दल की शोभा से मिश्रित, और झूमते हुए धान की बालों से पीले वर्ण को धारण करता है जिससे वृत्रासुर के शत्रु (इन्द्र) के धनुष के सदृश अनेक वर्ण युक्त हो गया है (कमलिनी-लता का रंग, हरा पद्म पुष्प का रंग लाल, और पके हुए धान के पौधों का रंग पीला होता है इन सबकी छाया पड़ने से जल में अनेक वर्ण प्रतीत होते हैं अतः जल इन्द्र धनुष की छटा धारण करता है ॥ २७ ॥

विपाण्डु संव्यानमिवानिलोद्धतं निरुन्धतीः सप्तपलाशजं रजः ।
अनाविलोन्मीलितबाणचक्षुषः सपुष्पहासा वनराजियोषितः ॥ २८ ॥

विपाण्ड्विति । विपाण्डु शुभ्रमनिलोद्धतमनिलोत्क्षिप्तम् । सप्त सप्त पलाशानि

पत्राणि पर्वसु येषां ते वृक्षाः सप्तपलाशाः । 'क्वचित्संख्याशब्दस्य वृत्तिविषये वीप्सार्थत्वं सप्तपर्णादिव' इत्युक्तम् । तेषां पुष्पाणि सप्तपलाशानि । 'द्विहीनं प्रसवे सर्वम्' इत्यमरः । 'फले लुक्' इत्यणो लुक् । तेषु जातं सप्तपलाशजं रजः परागं संव्यानमुत्तरीयमिव । 'संव्यानमुत्तरीयं च' इत्यमरः । निरुन्धतीर्निवारयन्तीः । प्रावृतवतीरिति यावत् । अनाविलान्यकलुषाण्युन्मीलितानि च बाणानि नीलसैरेयकाणि चक्षूंषीव यासां तास्तथोक्ताः । 'नीलस्त्वथंगलो दासी बाण ओदनपाक्यपि' इति धन्वन्तरिः । पुष्पाणि हासा इव तैः सह वर्तन्त इति सपुष्पहासाः । वनराजयो योषित इव वनराजियोषितः । ता अपदिश्येत्यन्वयः । अत्र संव्यानमिवेत्युपमैवान्यत्रोपमितसमासे लिङ्गम् । यथा काचित्केनचित्कामुकेनाक्षिप्तं स्तनांशुकं निरुन्धे तद्वदिति भावः ॥२८॥

वन राजियाँ कामिनी रूप हैं । उनके विकसित पुष्प (कामिनियों के) हास्य के समान हैं । इन वन राजियों में बाण वृक्ष (कट सरैया) निर्मल खुली हुई आँखों के सदृश है । सात-सात पत्तों से युक्त छितौन का पराग पाण्डु वर्ण के अञ्चल के सदृश है । जब ये हवा के झोंके से उड़ने लगते हैं तो स्त्रियाँ उन्हें सम्हालने लग जाती हैं । जिस प्रकार कामिनियाँ मन्द हास्य करती हुई अपने निर्मल नेत्रों से अवलोकन करती हैं और उनका वासन्ती रंग का अञ्चल हवा के झोंके से उड़ता रहता है और वे उसे सम्हालने लग जाती हैं । उसी तरह ये वन पँक्तियाँ फूलों के भार से लद्री हुई हैं । इनमें फूले हुये कट सरैया (बाण) के फूल और छितौन के भी वृक्ष हैं (छितौन के पेड के हर एक डण्ठी में सात-सात पत्ते होते हैं । छितौन के पराग हवा के झोंके से उड़ रहे हैं इस समय इन (वन राजियां के) वृक्ष भी हवा के झोंके से झकोरे ले रहे हैं ॥ २८ ॥

अदीपितं वैद्युतजातवेदसा सिताम्बुदच्छेदतिरोहितातपम् ।
ततान्तरं सान्तरवारिसीकरैः शिवं नभोवर्त्म सराजवायुभिः ॥ २९ ॥

अदीपितमिति । वैद्युतजातवेदसा वैद्युताग्निनाऽदीपितमप्रकाशितम् । विद्युत्प्रकाशस्य दृष्टिविघातकत्वात्तद्राहित्यं गुण इति भावः । सिताम्बुदानां छेदैः खण्डैस्तिरोहितातपम् । न दृष्टिबाधो नाप्यातपबाध इति भावः । सान्तरवारिसीकरैर्विरलम्बुकणैस्ततान्तरं व्याप्तमध्यं सरोजवायुभिः शिवं रम्यं नभोवर्त्म चापदिश्येति स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥ २९ ॥

आकाश मार्ग विद्युताग्नि से उद्भासित नहीं हो रहे हैं । और शुभ्र बादलों के खण्डों से सूर्य्य का आतप भी छिपा हुआ है । (जिससे आकाश मार्ग में चलने से न तो आँखें चकाचौंध होती हैं और न धूप ही सताती है) आकाश का अन्तराल विरल २ जल कणों से व्याप्त हो रहा है । कमलों की सुरभित गन्धि से आकाश पथ बहुत रमणीय हो गया है ॥ २९ ॥

सितच्छदानामपदिश्य धावतारुतैरमीषां ग्रथिताः पतत्रिणाम् ।
प्रकुर्वते वारिदरोधनिर्गताः परस्परालापमिवामला दिशः ॥३०॥

सितेति । अपदिश्य धावतामिति पूर्वश्लोकत्रयोक्तं पयःप्रभृतिकमुद्दिश्य' धावतामीषां सितच्छदानां पतत्रिणां हंसानाम् । 'हंसास्तु श्वेतगरुतश्चक्राङ्गा मानसौकसः' इत्यमरः । रुतैः शब्दैर्ग्रथिता दृब्धाः । ग्रथितं गुम्फितं दृब्धम्' इत्यमरः । वारिदरोधनिर्गता मेघोपरोधनिर्मुक्ता अतएवामलाः प्रसन्ना दिशः परस्परालापं प्रकुर्वंत इव । दिष्ट्या मेघोपरोधनिर्मुक्ताश्चिरादुच्छ्वसिता इति हंसकूजितव्याजेन परस्परमालपन्तीवेत्युत्प्रेक्षा ॥ ३० ॥

इन सब सुखकर वस्तुओं का अपदेश कर दौड़ते हुए इन धवल पक्ष वाले हंस पक्षियों के कल कूजन से गुम्फित होकर दिशायें मेघों के अवरोध से छुटकारा पाकर निर्मल हो गईं हैं और वे मानों अन्योन्य सम्भाषण कर रहीं हैं ॥ ३० ॥

विहारभूमेरभिघोषमुत्सुकाः शरीरजेभ्यश्च्युतयूथपङ्क्तयः ।
असक्तमूधांसि पयःक्षरन्त्यमूरुपायनानीव नयन्ति धेनवः ॥ ३१ ॥

विहारेति । विहारभूमेः । अपरराज्ञगोचरादित्यर्थः । आगच्छन्त्य इति शेषः । अभिघोषमुत्सुका व्रजं प्रत्युत्कण्ठिताः । वत्सप्रेम्णेति भावः । 'घोष आभीरपल्ली स्यात्' इत्यमरः । च्युता त्रुटिता यूथानां कुलानां पङ्क्तिः श्रेणीबन्धो यासां तास्तथोक्ताः । 'सजातीयैः कुल यथम्' इत्यमरः । अमूर्धेनवोऽसक्तमप्रतिबन्धं पयः क्षीरं क्षरन्ति स्रवन्ति । वत्सस्मरणात्प्रस्नवन्तीत्यर्थः । क्षरतेः शतृप्रत्ययः । ऊधांसि शरीरजेभ्योऽपत्येभ्य उपायनानीवातितोषकारिणीवेत्युत्प्रेक्षा । नयन्ति प्रापयन्ति । यथा लोके कुतश्चित्प्रवासादेत्य मातरः किंचित्खाद्यमानयन्ति तद्वदिति भावः ॥ ३१ ॥

अर्जुन ने देखा—ये गायें विहार भूमि से (वत्स के प्रेम से) निवास स्थान (घोष) के लिये उत्कण्ठित हो अपने झुण्ड से अलग हो गईं हैं और वे (अपने बच्चों का स्मरण कर) लगातार क्षीर परिस्रवण कर रहीं हैं । अपने थनों को मानों वे अपने शरीर से उत्पन्न होने वाले (बच्चों) के लिये उपहार ला रही हैं (अर्थात् जैसे माता अगर कहीं बाहर घूमने के लिये जाती है तो वह लौटते वक्त अपने बच्चों के लिये खाने का कुछ न कुछ सामान अवश्य लाती है उसी तरह गायें भी अपना थन बच्चों के लिये ला रही थीं) ॥ ३१ ॥

जगत्प्रसूतिर्जगदेकपावनी व्रजोपकण्ठं तनयैरुपेयुषी ।
द्युतिं समग्रां समितिर्गवामसावुपैति मन्त्रैरिव संहिताहुतिः ॥ ३२ ॥

जगदिति । जगत्प्रसूतिर्जगत्कारणम् । आज्यादिहविर्द्वारेणेति भावः । जगतामेकपावनी मुख्यशोधनी व्रजोपकण्ठं गोष्ठान्तिकम् । 'दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च' इति द्वितीया । 'उपकण्ठान्तिकाभ्यर्णाभ्यग्राः' इत्यमरः । तनयैर्वत्सैरुपेयुषी संगता । 'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च' इति क्वसुप्रत्ययान्तो निपातः । 'उगितश्च' इति ङीप् । असौ

गवां समितिः संहतिः। मन्त्रैर्ऋग्यजुःसामादिभिः। 'मन्त्री ऋगादिगुह्योक्तिः—' इति वैजयन्ती। संहिता योजिताहुतिरिव। समग्रां द्युतिमुपैति। आहुतिरपि जगत्प्रसूतिर्जगदेकपावनी च। 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः।' इति स्मरणादिति भावः॥ ३२॥

ससार की रक्षा करने में समर्थ, दुनियाँ को अपवित्रता से शुद्ध करने वाली गायें अपने बछड़ों के संग गोष्ठ (गोशाला) के समीप खड़ी थीं। उनका झुण्ड (अपनी पूर्ण शोभा के साथ) ऋक्, यजु और सामादि मन्त्रों से युक्त हव्यादि प्रक्षेप रूप आहुति (जो संसार के रक्षा में समर्थ और संसार को पवित्र करने वाली है) की तरह, अपनी पूर्ण शोभा को प्राप्त होता है॥ ३२॥

कृतावधानं जितबर्हिणध्वनौ सुरक्तगोपीजनगीतनिःस्वने।
इदं जिघत्सामपहाय भूयसीं न सस्यमभ्येति मृगीकदम्बकम्॥ ३३॥

कृतेति। जितबर्हिणध्वनौ। केकानुकारिणीत्यर्थः। एतेन षड्जस्वरप्रायं गायन्तीति गम्यते। यथाह मातङ्गः—'षड्जं मयूरो वदति' इति। गाः पान्तीति गोपास्तेषां भार्या गोप्यः। 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति कप्रत्ययः। 'पुंयोगादाख्यायाम्' इति ङीष्। ता एव जनः। सुरक्तो मधुरकण्ठो यो गोपीजनो बल्लवीजनस्तस्य गीतनिःस्वने गाने कृतावधानमेकाग्रचित्तमिदं पुरोवर्ति मृगीकदम्बकं कर्तृ भूयसीमतिमहतीं जिघत्सामत्तुमिच्छाम्। अदेः सन्नन्तादप्रत्ययः। 'लुङ्सनोर्घस्लृ' इति घस्लादेशः। अपहाय हित्वा सस्यं नाभ्येति नोपैति। गीतासक्त्या क्षुधामपि न गणयतीत्यर्थः॥३३॥

अर्जुन ने देखा—हरिणियों का झुण्ड, मयूरों का षड्ज ध्वनि को जीतने वाली (मधुर-कण्ठ-गोपियों के गान में दत्त चित्त होकर प्रबल खाने की इच्छा से विरत हो घास चरना भूल गया है (अर्थात् गीत में आसक्त हरिणियाँ भूख प्यास को भी भूल गई हैं)॥ ३३॥

असावनास्थापरयावधीरितः सरोरुहिण्या शिरसा नमन्नपि।
उपैति शुष्यन्कलमः सहाम्भसा मनोभुवा तप्त इवाभिपाण्डुताम्॥३४॥

असाविति। शिरसाग्रेण मूर्ध्ना च नमन्प्रणमन्नप्यनास्थापरयानादरपरया सरोरुहिण्यावधीरितोऽवज्ञातः। अम्भसा सह। शरभूतेनेति भावः। शुष्यन्नसौ कलमः शालिविशेषः। मनोभुवा तप्त इव कामार्त इव। अभिपाण्डुतामुपैति। अत्रानास्थापरयेति प्रकृतसरोरुहिणीविशेषणसामर्थ्यादप्रस्तुतनायिकाप्रतीतेः समासोक्तिः। उक्तिष्ठमानायाः सरोरुहिण्याः प्रतीयमानया नायिकया शुद्धभेदेऽप्यभेदलक्षणातिशयोक्तिमहिम्नावधीरणक्रियासम्बन्धाभिर्वहन्ती मनोभुवा तप्त इवेत्युत्प्रेक्षानिर्वाहिकेत्यतिशयोक्त्यनुप्राणितसमासोक्त्युपमयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः॥ ३४॥

अनादरकारिणी कमलिनी से तिरस्कृत हो कर यह शालि (धान) जल के साथ साथ स्वयं सूख कर काँटा हो रहा है, और काम से पीड़ित हो कर दिन दिन पीला पड़ता जा रहा है ॥ ३४ ॥

अमी समुद्धूतसरोजरेणुना हृता हृतासारकणेन वायुना ।
उपागमे दुश्चरिता इवापदां गतिं न निश्चेतुमलं शिलीमुखाः ॥ ३५ ॥

अमी इति। समुद्धूतसरोजरेणुनेति सौरभ्योक्तिः। हृतासारकणेनोपात्ताम्बुकणेनेति शैत्योक्तिः। 'धारासम्पात आसारः' इत्यमरः। वायुना हृता आकृष्टा अमी शिलीमुखा भृङ्गाः। आपदामुपागमे राजादिभयागमे दुश्चरिता दुष्टकर्माणश्चौरादय इव। गम्यत इति गतिं गन्तव्यदेशम्। 'देशोपायगमे गतिः' इति वैजयन्ती। निश्चेतुं नालं न समर्थाः। एकत्र वायोः सार्वत्रिकत्वेनापादानादनिश्चयादन्यत्र भयान्धत्वादिति भावः ॥ ३५ ॥

ये भ्रमर, उड़ते हुए कमल-परागों को धारण करते हुए तथा वर्षा के जल कणों से युक्त (त्रिविध = शीतल, मंद, सुगन्ध वायु कमल पराग से सुगन्धि और उसके भार से मन्दता तथा जल कण से शैत्य का ग्रहण करता है) शीतल, मन्द, सुगन्ध पवन के द्वारा आकृष्ट हो कर; आपत्ति में पड़े हुए तस्करों (चोर, लम्पटों) की तरह 'रक्षार्थ कहाँ भाग कर जाँय, इसका निश्चय नहीं कर पाते हैं ॥ ३५ ।.

मुखैरसौ विद्रुमभङ्गलोहितैः शिखाः पिशङ्गीः कलमस्य बिभ्रती ।
शुकावलिर्व्यक्तशिरीषकोमला धनुःश्रियं गोत्रभिदोऽनुगच्छति ॥३६॥

मुखैरिति। विद्रुमभङ्गलोहितैर्मुखैः पिशङ्गीः पिशङ्गवर्णाः कलमस्य शिखाः शाल्यग्राणि बिभ्रती व्यक्तशिरीषकोमला विकसितशिरीषसवर्णासौ शुकावलिर्गोत्रभिद इन्द्रस्य धनुषः श्रियमनुगच्छत्यनुकरोति । नानावर्णत्वादिन्द्रधनुरिवाभातीत्युपमालङ्कारः ॥ ३६ ॥

यह (शुकावलि) (शुक = तोता । अवलि पङ्क्ति) अपने प्रवाल के टुकड़े के समान अरुण वर्ण के चञ्चुओं से पीले रंग की धान की फल संयुक्त शिखा धारण करती हुई विकसित शिरीष के पुष्प सवर्णा इन्द्र के धनुष की शोभा का अनुसरण कर रही है। अर्थात् इन्द्र धनुष में विविध प्रकार के रङ्ग पाये जाते हैं उसी तरह इन तोतों के समूहों में विविध रङ्ग; (चोंच लाल, धान की वाल पीली और उनके वदन का रंग हरा तथा उनके गलों में जो रेखा पड़ी हुई होती है वह अनेक रंग की होती है) होने से उसकी जो इन्द्रधनुष की समानता हो रही है ॥ ३६ ॥

इति कथयति तत्र नातिदूरादथ ददृशे पिहितोष्णरश्मिबिम्बः ।
विगलितजलभारशुक्लभासां निचय इवाम्बुमुचां नगाधिराजः ॥३७॥

इतीति। तत्र तस्मिन्पूर्वोक्ते यक्ष इतीत्थं कथयति सति नातिदूरादनतिदूरात्। ईषद्दूर इत्यर्थः। नञर्थस्य नशब्दस्य सुप्सुपेति समासः। पिहितोष्णरश्मिबिम्बस्तिरोहितार्कमण्डल इत्यौन्नत्योक्तिः। नगाधिराजो हिमाद्रिर्विगलितो जलभारो येषां ते तथोक्ताः अतएव शुक्लभासः। द्वयोरन्यतरस्य विशेष्यत्वविवक्षया विशेषणसमासः। तेषां विगलितजलभारशुक्लभासां शुभ्राणामम्बुमुचां निचय इव मेघवृन्दमिव ददृशे दृष्टः॥

इस तरह वार्त्तालाप करते हुये यक्ष ने सन्निकट से, भगवान् भास्कर के मण्डल को तिरोहित करनेवाला पर्वत राज हिमालयको उन मेघों के समूह के सदृश देखा जिनके जलभार परित्याग करने से वर्ण शुभ्र हो गये हैं॥ ३७॥

तमतनुवनराजिश्यामितोपत्यकान्तं नगमुपरि हिमानीगौरमासाद्य जिष्णुः।
व्यपगतमदरागस्यानुसस्मार लक्ष्मीमसितमधरवासो बिभ्रतः सीरपाणेः॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये चतुर्थः सर्गः।



तमिति। जिष्णुरर्जुनोऽतनुभिर्महतीभिर्वनराजिभिः श्यामिताः श्यामला उपत्यकान्ता आसन्नभूमिप्रदेशा यस्य तं तथोक्तम्। 'उपत्यकाद्रेरासन्ना भूमिरूर्ध्वमधित्यका' इत्यमरः। 'उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः' इति त्यकन्प्रत्ययः। उपरि हिमानीभिर्हिमसङ्घातैर्गौरं शुभ्रं नगं हिमाद्रिमासाद्य। व्यपगतो निवृत्तो मदरागो यस्य तस्य। असितं नीलमधरं वास उत्तरीयं बिभ्रतो धृतवतः। सीरं हलं पाणौ यस्य तस्य सीरपाणेर्हलायुधस्य। 'हलायुधः। नीलाम्बरो रौहिणेयस्तालाङ्को मुसली हली। सङ्कर्षणः सीरपाणिः' इत्यमरः। 'सप्तमीविशेषणे—' इति ज्ञापकाद्व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः। 'प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ स्तः' इति सप्तम्याः परनिपातः। लक्ष्मीं शोभामनुसस्मार स्मृतवान् अत्र सदृशदर्शनेन सदृशान्तरस्य स्मरणात्स्मरणालङ्कारः 'सदृशं सदृशानुभवाद्यत्र स्मर्येत तत्स्मरणम्' इति विद्याधरः॥ ३८॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीयकाव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां चतुर्थः सर्गः समाप्तः।



सुन्दर विस्तृत वनों की पंक्तियों से नील वर्ण के उपत्यका (पहाड़के समीपकी नीची भूमि) प्रदेश से घिरे हुये, वर्फ के चट्टानों से ढके हुये शुभ्र हिमालय पर पहुँच कर, अर्जुन को हाला के राग से मुक्त नीलाम्बरधारी, सीरपाणी बलभद्रजी की शोभा का स्मरण हो आया॥ ३८॥

॥ चतुर्थ सर्ग समाप्त॥



पञ्चमः सर्गः

अथ हिमवद्वर्णनमारभते। तत्र पञ्चदशभिः कुलकमाह—

अथ जयाय नु मेरुमहीभृतो रभसया नु दिगन्तदिदृक्षया।
अभिययौ स हिमाचलमुच्छ्रितं समुदितं नु विलङ्घयितुं नभः॥ १॥

अथेति। अथानन्तरं सोऽर्जुनो मेरुमहीभृतो हेमाद्रेर्जयाय नु जयार्थं वा। नुशब्दोऽत्र वितर्के। 'नु पृच्छायां वितर्के च' इत्यमरः। रभसो वेगः। 'रभसो वेगहर्षयोः' इति वैजयन्तीविश्वप्रकाशौ। तद्वत्या रभसया। अतीवोत्कण्ठयेति यावत्। अर्शआदित्वादच्प्रत्ययः दिगन्तानां दिदृक्षया नु द्रष्टुमिच्छया वा। नभोऽन्तरिक्षं विलङ्घयितुं न्वतिक्रमितुं वा। समुदितम्। समुत्पतितमिव स्थितमित्यर्थः। कुतः। उच्छ्रितमुन्नतं हिमस्याचलं हिमाचलमभिययौ। अत्र निर्धारितानेकफल औन्नत्यगुणनिमित्तोदितादिक्रियोत्प्रेक्षा। सा च व्यञ्जकाप्रयोगात्प्रतीयमानेति सङ्क्षेपः। द्रुतविलम्बितं वृत्तम्—'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' इति लक्षणात्॥ १॥

(शरदृतु की शोभा का अवलोकन करते हुये अर्जुन ने दूर से हिमालय को देखा), इसके अनन्तर हिमालय की ओर प्रस्थान किया। हिमालय इतना ऊँचा है कि जिससे मालूम पड़ता था कि वह सुमेरु पर्वत को जीतने के लिये इतना ऊँचा हो रहा है या यह मालूम पड़ रहा था कि वह दिशाओं का अवसान देखने के लिये अत्युत्कण्ठित है। अथवा उसके औन्नत्य से यह भी प्रतीति होती थी कि वह आकाश लाँघ कर आगे बढ़ना चाहता है॥ १॥

तपनमण्डलदीपितमेकतः सततनैशतमोवृतमन्यतः।
हसितभिन्नतमिस्रचयं पुरः शिवमिवानुगतं गजचर्मणा॥ २॥

तपनेति। पुनः एकत एकस्मिन्भागे। सार्वविभक्तिकस्तसिः। तपनमण्डलेन दीपितं प्रकाशितम्। अन्यतोऽन्यस्मिन्भागे सततेनानिषिद्धेन नैशेन निशिभवेन तमसा वृतम्। एकत्राह्ना राव्या चान्यत्र सङ्गतमित्यर्थः। अत एव पुरोऽग्रे हसितेनाट्टहासेन भिन्नतमिस्रचयं निरस्ततमस्तोमं तथा गजचर्मणानुगतं पश्चाद् व्याप्तम्। 'पश्चात्सादृश्ययोरनु' इत्यमरः शिवमिव स्थितम्। तपनतेजःप्रसारोऽप्यस्य क्ण एव कुत्रचित्परिसमाप्यत इति महत्त्वातिशयोक्तिः॥ २॥

इसकी ऊँचाई के कारण सूर्य्य जिस तरफ रहता है उस तरफ प्रकाश रहता है और दूसरी तरफ रात्रि की तरह घना अन्धकार से आच्छादित रहता है अर्थात् एक ओर दिन और दूसरी ओर रात्रि रहती है इससे मालूम पड़ता है कि ये हाथी की खाल ओढ़े और अट्टहास करते हुये साक्षात् शिवजी हैं क्योंकि शिवजी के सामने का भाग उनके हास से प्रकाशित रहता है और पीछे का भाग हाथी की खाल से अन्धकाराच्छन्न रहता है॥ २॥

क्षितिनभःसुरलोकनिवासिभिः कृतनिकेतमदृष्टपरस्परैः ।
प्रथयितुं विभुतामभिनिर्मितं प्रतिनिधिं जगतामिव शम्भुना ॥ ३ ॥

क्षितीति । परस्परेऽन्योन्ये । 'कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वे भवतः' इति वक्तव्यात्परशब्दस्य द्विर्भावः । 'समासवच्च बहुलं यदा न समासवत्प्रथमैकवचनं तदा पूर्वपदस्य' इति वक्तव्यात्प्रथमैकवचनम् । सुट् । कस्कादित्वाद्विसर्जनीयस्य सत्वं बहुवचनं चान्योन्यशब्दवत् । यथा माघे—'अन्योन्येषां पुष्करैरामृशन्तः' इति । अदृष्टाः परस्परे यैस्तेऽदृष्टपरस्परास्तैस्तथोक्तैः । क्षितौ नभसि सुरलोके च निवसन्तीति तैस्तथोक्तैः । भूर्भुवःस्वर्लोकवासिभिरित्यर्थः । कृतनिकेतं कृतास्पदम् । अतएव शम्भुना विभुतां स्वसामर्थ्य प्रथयितुमभिनिर्मितं जगतां प्रतिनिधिं प्रतिकृतिमिव स्थितमित्युत्प्रेक्षा । 'प्रतिकृतिरर्चा पुंसि प्रतिनिधिरुपमोपमानं स्यात्' इत्यमरः । त्रैलोक्यश्लाघ्योपममपरिच्छेद्यं चेति भावः ॥ ३ ॥

पृथ्वी, आकाश, तथा स्वर्ग लोक के निवासी एक दूसरे से अदृष्ट होकर इस हिमालय पर निवास करते हैं । अतः मालूम पड़ता है कि शङ्कर भगवान ने अपने यश के प्रचार के लिये संसार भर का प्रतिनिधि इसे (हिमालय को) बनाया है ॥ ३ ॥

भुजगराजसितेन नभःश्रिता कनकराजिविराजितसानुना ।
समुदितं निचयेन तडित्वतीं लघयता शरदम्बुदसंहतिम् ॥ ४ ॥

भुजगेति । पुनश्च । भुजगराजसितेन शेषाहिधवलेन नभःश्रिता गगनस्पृशा कनकस्य राजिभी रेखाभिर्विराजिताः सानवो यस्य तेन तथोक्तेन । अतएव तडित्वतीं शरदम्बुदसंहतिं शरन्मेघचयं लघयता लघूकुर्वता । तत्तुल्येनेत्यर्थः । अत एवोपमालङ्कारः । निचयेन शिखरसमूहेन समुदितं समुन्नतम् । निचयेनेति । यद्यपि निचयशब्दः शिखरस्यावाचकस्तथापि पर्वतवर्णनप्रकरणोक्तत्वात्पाषाणनिचयः शृङ्गवाची भवितुमर्हति । यथा—'कूटोऽस्त्री शिखरं शृङ्गम्' इति कूटशब्दः समूहापरपर्यायः । अतएव लक्षणाश्रयणीया । अतएवावाच्यवचनं न दोषः ॥ ४ ॥

इसका (हिमालय का) गगनचुम्बी, शेषनाग के समान शुभ्र और सुवर्ण रेखाओं से सुशोभित शिखर-समूह इतना उन्नत है कि वह विद्युत्लतासे युक्त शरत् कालके मेघमालाओं को अपने औन्नत्य से तिरस्कृत कर रहा है ॥ ४ ॥

मणिमयूखचयांशुकभासुराः सुरवधूपरिभुक्तलतागृहाः ।
दधतमुच्चशिलान्तरगोपुराः पुर इवोदितपुष्पवना भुवः ॥ ५ ॥

मणीति । पुनः । मणिमयूखचया अंशुकानीव पटकादीनीव तैर्भासुराः । सुरवधूभिः परिभुक्ता लता गृहा इव यासु तास्तथोक्ताः । उच्चानि शिलान्तराणि गोपुरा-

जीव शिलान्तराणि शिलामध्यानि पुरद्वाराणि यासु ताः। उदितान्यूर्जितानि पुष्पाणां वनानि यासु ताः । अतएव पुर इव नगराणीव स्थिताः । भुवो दधतम् ॥ ५ ॥

इस हिमालय के भूभाग नगर के समान हैं, ये नगर विविध रत्नों को किरणों से प्रकाशित हैं । अमराङ्गनाओं से उपभुक्त लतायें इस नगर के भवन हैं । ऊँची २ शिलाओं के बीच के रिक्त स्थान नगर के फाटक हैं । अच्छे २ फूलों के वन पुष्पोद्यान हैं । (इस तरह के नगर वाले भूखण्डों को यह हिमालय धारण करता है) ॥ ५ ॥

अविरतोज्झितवारिविपाण्डुभिर्विरहितैरचिरद्युतितेजसा ।
उदितपक्षमिवारतनिःस्वनैः पृथुनितम्बविलम्बिभिरम्बुदैः ॥ ६ ॥

अविरतेति । पुनश्च । अविरतमविच्छिन्नमुज्झितवारयः । अवृष्टिमन्त इत्यर्थः । अतएव विपाण्डवश्च तैरविरतोज्झितवारिविपाण्डुभिः । अतएव हिमवत्पक्षत्वं सम्भवतीति भावः । अचिरद्युतितेजसा विरहितैर्विद्युत्तेजोरहितैः । आरतनिःस्वनैः प्रशान्तगर्जितैश्च । अन्यथा पक्षत्वहानिः स्यादिति भावः । पृथुनितम्बविलम्बिभिर्महाकटकसङ्गिभिः । 'कटकोऽस्त्री नितम्बोऽद्रेः' इत्यमरः । अम्बुदैरुदितपक्षं सञ्जातपक्षमिव स्थितम् । पाक्षिच्छन्नपक्षस्यापि हिमाद्रेर्धवलाम्बुदसम्बन्धात्पुनः पक्षोत्थानमुत्प्रेक्ष्यते ॥६॥

इस हिमालय के विपुल नितम्ब के समान मध्यभाग पर मेघ अवलम्बित हैं । (अब ये मेघ काले वर्ण के नहीं हैं किन्तु) खूब जलवर्षण कर निवृत्त हो जाने से धवल वर्ण के हो गये हैं । अब इनमें बिजली का प्रकाश बिलकुल नहीं रह गया है । ये (मेघ) गम्भीर गर्जन कर रहे हैं । इन बादलों से यह हिमवान् सपक्ष दिखलाई पड़ता है । पहले तो पर्वतों को पक्ष होते थे जिससे वे उड़ते थे । उड़ते २ जहाँ बैठ जाते थे वहाँ के धन-जन को नष्ट भ्रष्ट कर देते थे इस लिए इन्द्र ने पर्वतों का पक्ष काट डाला । यद्यपि यह पक्षरहित है तो भी इन मेघों से पक्षवान् उत्प्रेक्षित होता है ॥ ६ ॥

दधतमाकरिभिः करिभिः क्षतैः समवतारसमैरसमैस्तटैः ।
विविधकामहिता महिताम्भसः स्फुटसरोजवना जवना नदीः ॥ ७ ॥

दधतमिति । पुनश्च । आकरः खनिरेषामस्ति योनित्वेनेत्याकरिभिराकरजैः । 'खनिः स्त्रियामाकरः स्यात्' इत्यमरः । करिभिर्गजैः कर्तृभिः । क्षतैः रुग्णैः समवतारेषु तीर्थेषु समैरविषमैरसमैरसदृशैः । अनुपमैरित्यर्थः । तटैरुपलक्षितास्तथा महिताम्भसः श्लाघ्योदका अतएव विविधेभ्यः कामेभ्योऽवगाहनाद्युपभोगेभ्यो हिता अनुकूलाः । 'चतुर्थी तदर्थ-' इत्यादिना समासः । स्फुटानि विकसितानि सरोजवनानि यासु ताः । जवना वेगवतीः । 'जुचङ्क्रम्य-' इत्यादिना युच् । नदीर्दधतम् । यमकवृत्त्यनुप्रासभेदत्वात्त्रयमेवालङ्कारः । अर्थालङ्कारस्तत्वभ्युच्चयः । तस्यातिदुष्करत्वाद्रसपोषोऽपि नाद्रियते । तदुक्तम्—'प्रायशो यमके चित्रे रसपुष्टिर्न मृग्यते' इति ॥ ७ ॥

इस हिमालय पर बहुत सी नदियाँ हैं। उनके तट अनेक रत्नों की खानि हैं। वे हाथियों के द्वारा क्षत कर के समस्थल बना दिये गये हैं, देखने में बहुत सुन्दर हैं, इसलिए स्नान-मार्जनादि अनेक विध कार्य्यों के लिये ये नदियाँ हितकारिणी हैं। इनका जल अत्यन्त पवित्र है। इनमें कमल विकसित हो रहे हैं। ऊँचे से नीचे की तरफ बहने के कारण इन नदियों का प्रभाव प्रखर (तीव्र) है। (इस तरह की नदियों को यह हिमालय धारण करता है)॥७।

नवविनिद्रजपाकुसुमत्विषां द्युतिमता निकरेण महाश्मनाम्।
विहितसान्ध्यमयूखमिव क्वचिन्निचितकाञ्चनभित्तिषु सानुषु ॥ ८ ॥

नवेति पुनश्च। नवानि विनिद्राणि विकसितानि च यानि जपाकुसुमानि ताम्रपुष्पिकाकुसुमानि तेषां त्विष इव त्विषो येषां ते तेषाम्। 'ओण्ड्रपुष्पं जपापुष्पं रूपिका ताम्रपुष्पिका' इति वाग्भटः। द्युतिमतां महाश्मनां मणीनाम्। पद्मरागाणामित्यर्थः। विशेषणसामर्थ्यात्। निकरेण समूहेन हेतुना क्वचिन्निचिताः सङ्घटिताः काञ्चनभित्तयो येषु तेषु सानुषु विहिता सान्ध्याः सन्ध्यायां भवा मयूखा यस्मिंस्तमिव स्थितम्। काञ्चनभित्तिषु पद्मरागप्रभाप्रसरादुदितसन्ध्याराग इव भातीत्युत्प्रेक्षा ॥ ८ ॥

इस हिमालय पर अभिनव विकसित अड़हुल पुष्प के समान (अरुण) कान्तियुक्त पद्मरागादि महामणियाँ विराज रही हैं। प्रकाशित होते हुए इन महा मणियों के समूह से सङ्घटित होकर हेमयुक्त शिखरों पर सायकाल की किरणों के सदृश परिस्फुरण करती हुई किरणों को यह हिमालय धारण करता है। (सूर्य्य की किरणें सायङ्काल को पीला और लाल वर्ण विमिश्रित दिखलाई पड़ती हैं उसी तरह हिमालय सुवर्ण का पीला और पद्मराग का अरुण प्रकाश दोनों के एकत्रित होने के कारण सायङ्कालीन द्युति धारण करता है ॥८॥

पृथुकदम्बकदम्बकराजितं ग्रथितमालतमालवनाकुलम्।
लघुतुषारतुषारजलश्च्युतं धृतसदानसदाननदन्तिनम् ॥ ९ ॥

पृथ्विति। पुनश्च! पृथुभिः कदम्बवतां कदम्बकैर्नीपकुसुमसमूहै राजितम्। 'कदम्बमाहुः सिद्धार्थे नीपे च निकुरम्बके' इत्युभयत्रापि विश्वः। ग्रथितमालैर्बद्धपङ्क्तिभिस्तमालवनैस्तापिच्छवनैराकुलमाकीर्णम्। 'कालस्कन्धस्तमालः स्यात्तापिच्छोऽपि' इत्यमरः। लघुतुषारमल्पशीकरं यत्तुषारजलं हिमोदकं श्च्योतति वर्षति तं तथोक्तम्। 'तुषारौ हिमसीकरौ' इति शाश्वतः। 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इति क्विप्। सदानाः समदाः सदाननाः शोभनाननाश्च ये दन्तिनस्ते धृता येन तं तथोक्तम् ॥ ९ ॥

यह हिमालय बड़े बड़े कदम्ब के पुष्पों से विशोभित हो रहा है। यह गुथे हुये पुष्पमाल्य के सदृश तमाल के वनों से व्याप्त हो रहा है। बिन्दु-बिन्दु हिमजल इस पर से परिस्रवण कर रहा है। इस हिमालय पर मदस्रावी और सुन्दर शुण्ड, सुशुण्ड वाले हाथियों विचरण करते हैं ॥ ९ ॥

रहितरत्नचयान्न शिलोच्चयानपलताभवना न दरीभुवः ।
विपुलिनाम्बुरुहा न सरिद्वधूरकुसुमान्दधतं न महीरुहः ॥ १० ॥

रहितेति । पुनश्च । रहितरत्नचयान् रहितः परित्यक्तो रत्नचयो यैस्तान्रत्नराशिरहिताञ्छिलोच्चयाञ्छिखराणि न दधतम् । अपलताभवना लतागृहरहिता दरीभुवो गुहाप्रदेशान्न दधतम् । 'दरी तु कन्दरो वा स्त्री देवखातविले गुहा' इत्यमरः । विगतानि पुलिनान्यम्बुरुहाणि च यासां ताः । सरितो वध्व इव ताः सरिद्वधूर्न दधतम् । अत्र सरितां वध्वौपम्यात्पुलिनानामम्बुरुहाणां च वदनजघनौपम्यं गम्यते । अकुसुमान्महीरुहो वृक्षान्न दधतम्, किन्तु रत्नादिसम्पन्नानेव शिलोच्चयादीन्दधतमित्यर्थः । महाविभाषया नात्र नञ्समासः ॥ १०॥

इस हिमालय के शिखर रत्न-राशियों से खाली नहीं हैं (अर्थात् अनेकविध रत्नों की खानि इसके शिखर हैं) इसके कन्दरा के प्रदेश लतागृहों से शून्य नहीं हैं । इस (हिमालय) की नदियाँ नवविहाहिता रमणी की तरह हैं । ये नदियाँ सिकताराशि और कमलों से रहित नहीं हैं । इस पर के जितने वृक्ष हैं वे पुष्प और फलों को धारण न करते हों सो भी नहीं (अर्थात् सर्व-रत्न-सम्पन्न यह हिमालय है) ॥ १० ॥

व्यथितसिन्धुमनीरशनैः शनैरमरलोकवधूजघनैर्घनैः ।
फणभृतामभितो विततं ततं दयितरम्यलताबकुलैः कुलैः॥ ११ ॥

व्यथितेति । पुनश्च । अनीरशनैरनिर्मेखलैः । सरसनैरित्यर्थः । घनैर्निबिडैरमरलोकवधूजघनैः शनैर्मन्दं व्यथितसिन्धुं क्षोभितनदीकम् । अयमपरः स्वर्ग इति भावः । ये रम्या लताश्च वकुलाः केसराश्च ते दयिताः प्रिया येषां तैस्तथोक्तैः । 'विशारदो मद्यगन्धो बकुलः स च केसरः' इति वैद्यके । फणभृतां सर्पाणां कुलैरभितस्ततं व्याप्तं तथा विततं विस्तृतम् ॥ ११ ॥

इस हिमालय की नदियों का प्रवाह सुर-सुन्दरियों के काञ्ची सहित, मोटे-मोटे जघनों से धीरे-धीरे क्षुब्ध होता रहता है (अर्थात् वे आकर यहाँ नदियों में जलक्रीडा करती हैं जिससे प्रवाह क्षुब्ध होता है) और यह (हिमालय) सर्पों के कुलों से व्याप्त होकर विस्तृत हो रहा है । नूतन-कोमल, लता और पुष्प-पराग ही इनकी प्रियतमायें हैं ॥ ११ ॥

ससुरचापमनेकमणिप्रभैरपपयोविशदं हिमपाण्डुभिः ।
अविचलं शिखरैरुपबिभ्रतं ध्वनितसूचितमम्बुमुचां चयम् ॥ १२ ॥

ससुरेति ॥ अनेका विचित्रा मणिप्रभा येषां तैस्तथोक्तैः । हिमेन पाण्डुभिः शिखरैः कृत्वा ससुरचापं सेन्द्रचापम् । अपपया निर्जलोऽतएव विशदश्च तमपपयोविशदम् । अविचलं दैवान्निश्चलम् । अतः शिखरशङ्काऽस्याभूदित्यर्थः । किन्तु ध्वनितेन गर्जितेन

सूचितं ज्ञापितमम्बुमुचां चयमविरतमुपार्वभ्रतम् । अत्र किल कल्पितसादृश्याच्छिखरमेघसन्देहो मेघनिश्चयान्तः सन्देहालङ्कारः ॥ १२ ॥

हिमालय के शिखर अनेक मणियों की प्रभा से रञ्जित रहने के कारण तथा बर्फ से ढके होने के कारण शुभ्र दिखलाई पड़ते हैं । उस पर मेघमण्डल भी धवल वर्ण तथा इन्द्रधनुष के संग होता हुआ व्यक्त नहीं हो पाता है जब कभी वह गम्भीर गर्जन करता है तब स्पष्ट हो जाता है कि हिमालय के शिखर पर मेघ भी है ॥ १२ ॥

विकचवारिरुहं दधतं सरः सकलहंसगणं शुचि मानसम् ।
शिवमगात्मजया च कृतेर्ष्यया सकलहं सगणं शुचिमानसम् ॥ १३ ॥

विकचेति ॥ पुनश्च । विकचवारिरुहम् । नित्यविकसितारविन्दमित्यर्थः । वृत्तिसामर्थ्यात् कलहंसगणैः सह वर्तत इति सकलहंसगणम् । 'कादम्बः कलहंसः स्यात्' इत्यमरः । यद्वा । सकलाः सर्वे हंसगणा यस्मिंस्तत्तथोक्तम् । शुचि नित्यनिर्मलं मानसं मानसाख्यं सरो दधतम् । किञ्च । कृतेर्ष्यया । कुतश्चिन्निमित्तात्कुपितयेत्यर्थः । अगात्मजया पार्वत्या सकलहं सविवादम् । सगणं सप्रमथम् । 'गणाः प्रमथसंख्यौघाः' इति वैजयन्ती । शुचिमानसमविद्याविनिर्मुक्तचित्तं शिवं च दधतम् । एतेन सकलशैलवैलक्षण्यमस्योक्तम् ॥ १३ ॥

यह निर्मल जल युक्त, एक 'मानसरोवर' (तालाब) को धारण करता है । जिसमें कमल खिले हुए रहते हैं और इसमें कलहंसों का निवास है या सम्पूर्ण जाति के हंसों का निवास है । यही नहीं किन्तु किसी कारण से कुपित पार्वती के साथ, अपने प्रमथादि गणों के साथ, सम्पूर्ण अविद्याओं से विमुक्त अत एव शुद्ध चित्त शंकर जी को भी धारण करता है ॥ १३ ॥

ग्रहविमानगणानभितो दिवं ज्वलयतौषधिजेन कृशानुना ।
मुहुरनुस्मरयन्तमनुक्षपं त्रिपुरदाहमुमापतिसेविनः ॥ १४ ॥

ग्रहेति ॥ दिवमभितो दिवोऽभिमुखम् । 'अभितः परितः–' इत्यादिना द्वितीया । ग्रहाश्चन्द्रादयो विमानानि देवयानानि च । 'व्योमयानं विमानोऽस्त्री' इत्यमरः । तेषां गणाञ्ज्वलयता प्रदीपयता । 'मितां ह्रस्वः' इति ह्रस्वः । ओषधिजेन तृणविशेषजन्येन कृशानुना वह्निना कृत्वानुक्षपं प्रतिक्षपम् । वीप्सायामव्ययीभावः । उमापतिसेविनः प्रमथादीन् । 'गतिबुद्धि–' इत्यादिना द्विकर्मकत्वम् । त्रयाणां पुराणां समाहारस्त्रिपुरम् । 'तद्धितार्थ–' इत्यादिना समासः । 'पात्रादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः' इति स्त्रीलिङ्गप्रतिषेधः । तस्य दाहं त्रिपुरदाहं मुहुरनुस्मरयन्तम् । ननु 'अधीगर्थ–' इत्यादिना दाहमित्यत्र षष्ठी किं न स्यात् । तस्याः शेषार्थे विधानाच्छेषत्वस्याविवक्षितत्वात् । अत्र 'कविसम्मतसादृश्यात्स्मृतिः' इति स्मरणालङ्कारः ॥ १४ ॥

इस हिमालय पर स्वर्ग के चतुर्दिक् (प्रति भाग) ग्रहों (चन्द्रादि) और देवताओं के विमानों का प्रकाशक तृण विशेष से उत्पन्न अग्नि से, उमापति (शंकर) के सेवकों (अर्थात् शङ्कर भगवान् के गणों) को त्रिपुरासुर के नगर के दाह का बारम्बार स्मरण हो जाता है तात्पर्य यह कि यह अनेक प्रकार की ओषधियों का बड़ा भण्डार है ॥ १४ ॥

विततशीकरराशिभिरुच्छ्रितैरुपलरोधविवर्तिभिरम्बुभिः ।
दधतमुन्नतसानुसमुद्धतां धृतसितव्यजनामिव जाह्नवीम् ।। १५ ।।

विततेति ॥ विततशीकरराशिभिर्विस्तृतशीकरपुञ्जैरुच्छ्रितैरुत्पतितैः। कुतः । उपलरोधेन विवर्तिभिरम्बुभिर्हेतुभिर्धृतसितव्यजनामिव गृहीतामलचामरामिव स्थितामित्युत्प्रेक्षा । उन्नतसानुषु समुद्धतां वहन्तीं जाह्नवीं गङ्गां दधतम् ॥ १५ ॥

इस हिमालय के उन्नत शिखरों पर गङ्गा प्रवाहित होती हैं। पत्थरों के ढेर के कारण जब उनका जल-प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है । पुनः उन प्रस्थरों के ढेरों पर से उतरने लगता है उस समय असंख्य जलि कण ऊर्ध्व गति से फव्वारे की तरह छूटते हैं उस समय गङ्गा शुभ्र चामर धारण की हुई की भाँति प्रतीत होती है ॥ १५ ॥

अनुचरेण धनाधिपतेरथो नगविलोकनविस्मितमानसः ।
स जगदे वचनं प्रियमादरान्मुखरताऽवसरे हि विराजते ।। १६ ।।

अनुचरेणेति । अथोऽनन्तरम् । 'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ' इत्यमरः। धनाधिपतेरनुचरेण यक्षेण नगविलोकनेन विस्मितमानसः। सोऽर्जुनः। आदरात्प्रियं वचनं जगदे गदितः । गदतेर्गत्यर्थस्य दुहादित्वादप्रधाने कर्मणि लिट्। अपृष्टपरिभाषणदोषं परिहरति—मुखरतेति। मुखरता वाचालत्वम्। अपृष्टपरिभाषित्वमिति यावत्। अवसरे श्रोतुराकाङ्क्षासमये विराजते हि। आकाङ्क्षितमपृष्टोऽपि ब्रयादिति भावः ॥ १६ ॥

इसके पश्चात् कुवेर के भृत्य ने, हिमालय के अवलोकन से आश्चर्य चकित अर्जुन से आदरपूर्वक मधुर शब्दों में कहा क्योंकि यदि मनुष्य अवसर समझ कर बिना पूछे भी कुछ कहता है तो उसकी शोभा होती है ॥ १६ ॥

अलमेष विलोकितः प्रजानां सहसा संहतिमंहसां विहन्तुम् ।
घनवर्त्म सहस्रधेव कुर्वन्हिमगौरैरचलाधिपः शिरोभिः ।। १७ ।।

अलमिति। हिमेन गौरैः शुभ्रैः शिरोभिः शिखरैर्घनवर्त्म खं सहस्रधा कुर्वन्निवपाटयन्निवेत्युत्प्रेक्षा । एषोऽचलाधिपो हिमवान्विलोकितो दृष्टमात्र एव प्रजानामंहसां संहतिं पापसङ्घातं सहसा विहन्तुमलं समर्थः।'पर्याप्तिवचनेष्वलमर्थेषु' इति। तुमुन्।

औपच्छन्दसिकं वृत्तम्—'पर्यन्तेयौं तथैव शेषं चौपच्छन्दसिकं सुधीभिरुक्तम्' इति ॥ १७ ॥

यक्षने कहा—यह नगेन्द्र हिम-धवल अपने शिखरों से मेघ-मार्ग अर्थात् आकाश-मंडल को मानो असंख्य भागों में विभक्त कर दिया है। दर्शन मात्र से ही यह लोगों के पापपुञ्ज का नाश करने में समर्थ है ॥ १७ ॥

इह दुरधिगमैः किञ्चिदेवागमैः सततमसुतरं वर्णयन्त्यन्तरम्।
अमुमतिविपिनं वेद दिग्व्यापिनं पुरुषमिव परं पद्मयोनिः परम्॥१८॥

इहेति। इहास्मिन्पर्वते। सुतरं न भवतीत्यसुतरम्। दुस्तरमित्यर्थः। तरतेः खल्प्रत्ययः। अन्तरं मध्यभागम्। पुरुषे त्वन्तरं तत्त्वम्। दुरधिगमैर्दुरारोहैरन्यत्र दुर्ग्रहैरागमैर्घृचैरन्यत्र पुराणादिभिः। 'पुराणेऽप्यागमो वृचे' इति रुद्रः। किञ्चिदेव सततं वर्णयन्ति न तु कदाचित्प्रत्यचेणापि निःशेषं ज्ञातुमशक्यत्वादिति भावः। किं-त्वतिविपिनमतिगहनं दिग्व्यापिनमुभयत्रापि समम्। अमुं गिरिं परं पुरुषं परमा-त्मानमिव परं केवलम्। 'परमव्ययमिच्छन्ति केवले' इति विश्वः। पद्मयोनिर्ब्रह्मैव वेद नान्य इत्यर्थः। 'विदो लटो वा' इति णलादेशः। अ त्रोपमायमकयोः संसृष्टिः। चमावृत्तम्—'तुरगरसयतिर्नौ भरौ गः चमा' इति लक्षणात् ॥ १८ ॥

इस (हिमालय) के दुस्तर आभ्यन्तर तत्त्व का वर्णन, दुरूह पुराणों की सहायता से थोड़ा बहुत किया जाता है। दिगन्तव्यापी, इस पर्वत को, जिसमें बहुत से घने-घने जङ्गल हैं, और जो परम पुरुष भगवान के सदृश अज्ञेय है, केवल ब्रह्मा ही जानते हैं ॥ १८ ॥

रुचिरपल्लवपुष्पलतागृहैरुपलसज्जलजैर्जलराशिभिः ।
नयति सन्ततमुत्सुकतामयं धृतिमतीरुपकान्तमपि स्त्रियः॥ १९ ॥

रुचिरपल्लवेति। अयं गिरिः। रुचिराणि पल्लवानि पुष्पाणि च येषां ते तथाभूता लतागृहा येषु तैस्तथोक्तैरुपलसजलजैः शोभितकमलैर्जलराशिभिः सरोभिः करणैः उपकान्तं कान्तसमीपे धृतिमतीर्धैर्यवतीरपि समीपस्थानपि प्रियान्न गणयन्तीः। मानिनीरित्यर्थः। स्त्रियः सन्ततमुत्सुकतां नयति। तासां मानग्रन्थिं शिथिलयतो-त्यर्थः। अथवा। उपकान्तं धृतिमतीस्तुष्टिमतीरपि सुरततृप्ता अपि पुनरप्युत्सुकतां नयतीत्यर्थः। उभयत्राप्युद्दीपकत्वादतिशयोक्तिः। वृत्तमुक्तम् ॥ १९ ॥

कोमल किशलय और पुष्पों से युक्त लताओं के कुञ्जों से तथा कमल पूर्ण सरोवरों से सुशोभित होता हुआ, यह (हिमवान्) प्रियतम के समीप, मानिनी भी स्त्रियों को उत्क-ण्ठित कर देता है (अथवा रति-सुख से तृप्त भी स्त्रियों को अपने-अपने पति से रमण करने के लिये बार-बार लालायित कराता है) ॥ १९ ॥

सुलभैः सदा नयवताऽयवता निधिगुह्यकाधिपरमैः परमैः ।
अमुना धनैः क्षितिभृतातिभृता समतीत्य भाति जगती जगती ॥२०॥

सुलभैरिति । नयवता नीतिमताऽयवता भाग्यवता च सदा सुलभैः । नान्यैरित्यर्थः । 'अयः शुभावहो विधिः' इत्यमरः । निधीनां महापद्मादीनाम् । 'अस्त्री पद्मो महापद्मः शङ्खो मकरकच्छपौ । मुकुन्दकुन्दनीलाश्च खर्वश्च निधयो नव ॥' इत्यमरः । गुह्यकानां चाधिपं कुबेरं रमयन्तीति तथोक्तैः । 'कर्मण्यण्' । परमैरुत्कृष्टैर्धनैः करणैः । अमुना क्षितिभृता हिमाद्रिणातिभृता पूर्णा सती जगती मही जगती स्वर्गपाताललोकौ समतीत्यातिक्रम्य भाति । अमानुषैरपि दुर्लभाः सम्पदोऽत्र सम्भवन्तीति भावः । अत्र धनातिभृतेति पदार्थस्य विशेषणगत्या जगदतिक्रमणहेतुत्वोक्त्या काव्यलिङ्गम् । तस्य यमकेन संसृष्टिः । प्रमिताक्षरावृत्तम्—'प्रमिताक्षरा सजससैरुदिता' इति लक्षणात् ॥ २० ॥

इस भूलोक की भूमि, नीतिमान तथा भाग्यवान पुरुषों से सुलभ, निधि और यक्षों के स्वामी (कुबेर) की सर्वोत्तम धन-राशि सम्पन्न हिमवान् से पूर्ण होकर, अन्य लोकों की भूमि पर विजय प्राप्त कर सुशोभित हो रही है । अर्थात् प्रचुर सम्पत्ति सम्पन्न इस हिमवान से इस लोक की पृथ्वी सबसे बढ़कर है ॥ २० ॥

अखिलमिदममुष्य गौरीगुरोस्त्रिभुवनमपि नैति मन्ये तुलाम् ।
अधिवसति सदा यदेनं जनैरविदितविभवो भवानीपतिः ॥ २१ ॥

अखिलमिति । अमुष्य गौरीगुरोर्हिमवत इदमखिलम् । त्रयाणां भुवनानां समाहारस्त्रिभुवनमपि । 'तद्धितार्थ—' इत्यादिना समासः । पात्रादित्वात्स्त्रीत्वप्रतिषेधः । तुलां साम्यं नैतीति मन्ये । यद्यतो जनैरविदितविभवोऽज्ञातमहिमा भवानीपतिः शिवः सदैनं गिरिमधिवसति । अस्मिन्वसतीत्यर्थः । 'उपान्वध्याङ्वसः' इति कर्मत्वम् । अतोऽयं धर्मक्षेत्रमिति भावः । प्रभावृत्तम्—'स्वरशरविरतिर्ननौ सरौ प्रभा' इति लक्षणात् ॥ २१ ॥

सम्पूर्ण यह त्रिभुवन (आकाश, पाताल और मृत्युलोक) इस अपर्णा (पार्वती) के पिता हिमालय के समक्ष नहीं टिक सकता । क्योंकि इस पर भगवान् शंकर सर्वदा निवास करते हैं जिनकी महिमा साधारण पुरुषों को अविदित है ॥ २१ ॥

वीतजन्मजरसं परं शुचि ब्रह्मणः पदमुपैतुमिच्छताम् ।
आगमादिव तमोपहादितः सम्भवन्ति मतयो भवच्छिदः ॥ २२ ॥

वीतेति । वीते निवृत्ते जन्मजरसौ यस्य तद्वीतजन्मजरसम् । 'जराया जरसन्यतरस्याम्' इति जरसादेशः । अत्र तदन्तविधेरिष्टत्वात्परत्वेन स्यादेशबाधकत्वाच्च ।

तथाहि—'टाङसिङसामिनात्स्या' इति स्यादेशबाधनात् । परत्वाज्जरसादेशं बभाष भाष्यकृत्स्वयम् । सूत्रकारमते यत्तु ज्ञापकात्परबाधनम् । भवेत्तदपि टाङस्योर्न पुनर्ङसि संभवि । मतद्वयेऽपि तत्तुल्यं ङसि यत्पूर्वबाधनम् । परत्वाज्जरसादेशस्ततस्स्यात्स्यादेशबाधनात् । ज्ञापकं यच्च टाङस्योर्यावादेशाविनादिति । ईकारदीर्घयोस्तत्र वैयर्थ्यं तत्तु तौ विना । एत्वे सवर्णे दीर्घे च रूपसिद्धिर्भवेद्यतः । व्यर्थसूत्रादरस्यागाद्ङस्त्वतज्ज्ञापकं फणी । स्वातन्त्र्याज्जरसादेशं जगौ पूर्वस्य बाधनात् । समर्थनप्रपञ्चस्तु भाष्यकैयटयोः स्फुटः ॥' एवं च यदत्र जरस इति केषाञ्चित्पाठान्तरकल्पनं तदज्ञानविजृम्भितमेव । ब्रह्मणः परमात्मनः सम्बन्धि परमुत्कृष्टं शुचि निष्कलङ्कम् । पद्यत इति पदं स्थानं तादात्म्यलक्षणम् । मुक्तिमित्यर्थः । उपैतुं प्राप्तुमिच्छतां मुमुक्षूणामागमाच्छास्त्रादिव । तमोपहन्तीति तमोपहादविद्यानिवर्तकात् । 'अपे क्लेशतमसोः' इति डप्रत्ययः । इतोऽस्माद्गिरेः । भवं छिन्दन्तीति भवच्छिदः संसारनिवर्तकाः । 'सत्सूद्विष—' इत्यादिना क्विप् । मतयस्तत्त्वज्ञानानि सम्भवन्त्युत्पद्यन्ते । क्षेत्रविशेषस्यापि ज्ञानोपायत्वादित्याशयः । न केवलमियं भोगभूमिः किन्तु मुक्तिक्षेत्रमपीति तात्पर्यार्थः । रथोद्धतावृत्तम् । तल्लक्षणम्—'रान्नराविह रथोद्धता लगौ' इति ॥ २२ ॥

जन्म और जरा रहित, पवित्र और सर्वोत्तम ब्रह्म-धाम के चाहने वालों के लिये, अज्ञान-निवर्तक शास्त्र की तरह इस हिमालय से संसार के बन्धन से मुक्त हो जाने की सद्बुद्धि उत्पन्न होती है । अर्थात् यह मुमुक्षुओं के लिये शास्त्र का काम करता है । जैसे शास्त्र के अध्ययन से बुद्धि का झुकाव मोक्ष की तरफ हो जाता है वैसे ही इस पर निवास मात्र से बुद्धि सन्मार्ग का अवलम्बन करती है ॥ २२ ॥

दिव्यस्त्रीणां सचरणलाक्षारागा रागायाते निपतितपुष्पापीडाः ।
पीडाभाजः कुसुमचिताः साशंसं शंसन्त्यस्मिन्सुरतविशेषं शय्याः ॥२३॥

दिव्येति । अस्मिन्गिरौ । चरणलाक्षारागैः सह वर्तन्ते तास्तथोक्ताः । धेनुकपुरुषायितादिबन्धेषु स्त्रियाः पादतलस्याधः स्पर्शात्तद्रागाङ्किता इत्यर्थः । निपतिता ध्यानतकरणे स्त्रीणामधोमुखत्वाद्भ्रष्टाः पुष्पापीडाः कुसुमशेखरा यासु तास्तथोक्ताः । 'शिखास्वापीडशेखरौ' इत्यमरः । पीडाभाजो विमर्दभाजः । भङ्गिमत्य इत्यर्थः । भ्रमरप्रेङ्खोलितादौ सर्वतः कटीपरिभ्रमणसम्भवादिति भावः । कुसुमैश्चिताः कुसुमव्याप्ताः । इभमार्जारादिकरणेषु स्तनभुजाद्यवयवानां शय्यातलस्थायित्वान्मर्दनाय कुसुमाचिता इत्यर्थः । दिव्यस्त्रीणां सम्बन्धिन्यः । शेरत आस्विति शय्यास्तल्पानि । 'संज्ञायां समजनिषद—' इत्यादिना क्यप् । रागायाते रागोद्रेके सति यः साशंसः सतृष्णः सुरतविशेषस्तम् । जातावेकवचनम् । सुरतविशेषानित्यर्थः । शंसन्ति सूचयन्ति । विवृण्वन्तीत्यर्थः । अत्र लाक्षारागादिपदार्थानां सुरतविशेषशंसनं प्रति विशेषणगत्या हेतुत्वोक्त्या काव्यलिङ्गमलङ्कारो यमकेन संसृज्यते । जलधरमालावृत्तम्— म्भौ स्मौ

चेत्स्याज्जलधरमाला ख्याता' इति लक्षणात् । धेनुकादिबन्धलक्षणं तु रतिरहस्ये— 'न्यस्तहस्तयुगला निजे पदे योषिदेति कटिरूढवल्लभा । अग्रतो यदि शनैरधोमुखी धेनुकं वृषवदुन्नते प्रिये । स्वेच्छया भ्रमति वल्लभेऽपि या योषिदाचरतिवल्लभायितम् । व्यानतं रतमिदं यदि प्रिया स्यादधोमुखचतुष्पदाकृतिः । तत्कटिं समधिरुह्य वल्लभः स्याद्वृषादिपशुसंस्थितिस्थितः । चक्रवद्भ्रमति कुञ्चिताङ्घ्रिका भ्रामरं न जघने समुद्गते ॥ एवंतः कटिपरिभ्रमो यदि प्रेङ्खपूर्वमिदमुक्तमूलितम् । भूगतस्तनभुजास्यमस्तकामुन्नतस्फिचमधोमुखीं स्त्रियम् । क्रामति स्वकरकृष्टमेहने वल्लभे करिरतं तदुच्यते । 'प्रसारिते पाणिपादे शय्यास्पृशि मुखोरसि । उन्नतायाः स्त्रियाः कट्यां मार्जारकरणं विदुः ॥' इति ग्रन्थान्तरे । 'कान्तोत्पीडा भ्भौ स्मौ' इति वृत्तम् ॥

इस हिमालय पर (कुसुमों) फूलों की शय्यायें, जो चरण में लगाये गये महावर से रञ्जित हैं, जिनपर म्लान पुष्प पड़े हुए हैं; और जो अत्यन्त विमर्दित हो गई हैं; दृष्टिगोचर हो रही हैं उनसे सुर-सुन्दरियों के अत्यन्त रागोद्रेक पूर्वक कामोपभोग की क्रिया सूचित होती है ॥ २३ ॥

गुणसम्पदा समधिगम्य परं महिमानमत्र महिते जगताम् ।
नयशालिनि श्रिय इवाधिपतौ विरमन्ति न ज्वलितुमोषधयः ॥ २४ ॥

गुणेति । जगतां महिते जगद्भिः पूजिते पूज्यमाने । 'मतिबुद्धि' इत्यादिना वर्तमाने क्तः । 'क्तस्य च वर्तमाने' इति षष्ठी । अत्र हिमवत्योषधयस्तृणज्योतींषि नयशालिन्यधिपतौ नीतिसम्पन्ने राज्ञि श्रियः सम्पद इव गुणसम्पदा क्षेत्रगुणसम्पत्त्या । अन्यत्र सन्ध्यादिगुणसम्पदा । परं महिमानम् । उभयत्रापि प्रकाशसामर्थ्यम् । समधिगम्य ज्वलितुं प्रकाशितुं न विरमन्ति । अविरतं ज्वलन्तीत्यर्थः । अन्यत्र रात्रावेवेति भावः ॥ २४ ॥

जिस प्रकार नीतिमान राजा की राज्यलक्ष्मी सन्ध्या, पूजन, तर्पणादि गुणों से अलौकिक शक्ति प्राप्त कर सर्वदा उस राजा के प्रताप की अभिवृद्धि किया करती हैं उसी प्रकार लोकपूज्य इस हिमालय पर ओषधियाँ क्षेत्र-सम्पत्ति से परम शक्ति प्राप्त कर अहर्निश प्रज्वलित रहने से विश्राम नहीं कर पाती हैं अर्थात् सबकाल प्रकाश किया करती रहती हैं ॥२४॥

कुररीगणः कृतरवस्तरवः कुसुमानताः सकमलं कमलम् ।
इह सिन्धवश्च वरणावरणाः करिणां मुदे सनलदानलदाः ॥ २५ ॥

कुररीति । इहाद्रौ कुररीगण उत्क्रोशसङ्घः । 'उत्क्रोशकुररौ समौ' इत्यमरः । कृतरवः कृतारवः । तरवः कुसुमानताः । कमलं जलं सकमलं सपद्मम् । 'कमलं जलपद्मयोः' इति विश्वः । यद्वा कं जलमलमत्यन्तं सपद्मं वर्तते । 'कं जले शिरसि च' इत्यमरः । किञ्च । वरणा द्रुमा आवरणं यासां ता वरणावरणाः । 'वरणो वरुणः सेतु-

स्तिक्तशाकः कुमारकः' इत्यमरः। सनलदाः सोशीराः। 'मूलेऽस्योशीरमस्त्रियाम्। अभयं नलदं सेव्यम्' इत्यमरः। अनलं सन्तापं घ्नन्ति खण्डयन्ति शमयन्तीत्यनलदाः सनलदाश्च ता अनलदाः सिन्धवो नद्यः करिणां मुदे। भवन्तीति शेषः। न कुत्राप्युक्तवैपरीत्यमिति भावः॥ २५॥

इस हिमालय पर कुररी जाति की पक्षियाँ बोलती रहती हैं। इस पर के वृक्ष पुष्प-भार से झुक गये हैं। इसके जलाशय कमल से विशोभित हैं। इस पर की सरितायें वृक्षों से अपने को आवृत कर ली हैं। इनके तट पर उशीर उगे हुए हैं। ये ताप को दूर भगा देती हैं। हाथियों के लिये प्रसन्नतावर्द्धक हैं॥ २५॥

साद्दश्यं गतमपनिद्रचूतगन्धैरामोदं मदजलसेकजं दधानः।
एतस्मिन्मदयति कोकिलानकाले लीनालिः सुरकरिणां कपोलकाषः॥

साद्दश्यमिति। एतस्मिन्पर्वतेऽपनिद्रचूतगन्धैः साद्दश्यं गतं फुल्लाम्रपुष्पगन्धसद्दशं मदजलसेकजमामोदं परिमलं दधानो बिभ्राणः। अतएव लीनालिः संसक्तभृङ्गः सुरकरिणाम्। कष्यतेऽनेनेति काषः। कपोलानां काषः कषणस्थानं द्रुमस्कन्धादि। अकाले वसन्तातिरिक्ते कालेऽपि कोकिलान्मदयति। 'मितां ह्रस्वः' इति ह्रस्वः। अत्र वसन्तरूपकारणाभावेऽपि मदाख्यकार्योत्पत्तिकथनाद्विभावनालङ्कारः। तदुक्तम्—'कारणेन विना कार्यस्योत्पत्तिः स्याद्विभावना' इति। सा च चूतगन्धैः साद्दश्यमित्युपमया वामोदं दधान इति पदार्थहेतुककाव्यलिङ्गेन चाङ्गाङ्गिभावेन सङ्कीर्यते। किञ्च कोकिलानां मदगन्धे चूतगन्धभ्रान्त्या भ्रान्तिमदलङ्कारो व्यज्यते। प्रहर्षिणीवृत्तम्—'म्नौज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्' इति लक्षणात्॥ २६॥

इस हिमालय पर विकसित आम्र-मञ्जरी के गन्ध के समान मदजल-सेचन से उत्पन्न सौरभवाही, सुरगजों के कपोल द्वारा विघर्षित, और जिसपर भ्रमरकुल व्याप्त हैं ऐसी वृक्षों की शाखाओं का घृष्टस्थान वसन्त का समय न होने पर भी कोकिलों को वसन्त का भ्रम उत्पन्न कराकर मदोन्मत्त बना देता है॥ २६॥

सनाकवनितं नितम्बरुचिरं चिरं सुनिनदैर्नदैर्वृतममुम्।
मता फणवतोऽवतो रसपरापरास्तवसुधा सुधाधिवसति॥ २७॥

सनाकेति। पुनश्च। सनाकवनितं साप्सरस्कं नितम्बैः कटकै रुचिरं सुनिनदैः सुघोषैर्नदैः प्रवाहैर्वृतममुम्। अमुष्मिन्गिरावित्यर्थः। 'उपान्वध्याङ्वसः' इति कर्मत्वम्। अवतोऽधोलोकरक्षकस्य फणवतो नागराजस्य मतेष्टा। 'मतिबुद्धि–' इत्यादिना वर्तमाने क्तः। तद्योगात्षष्ठी। रसेन स्वादेन परोत्कृष्टा परास्तवसुधा त्यक्तभूलोका सुधामृतं चिरमधिवसति। अतोऽन्यत्र भूमण्डले कुत्रापि सुधा नास्तीत्यर्थः। मेरुप्रतिभटोऽयं गिरिरिति भावः। अत्र प्रस्तुतविशेषणसामर्थ्यादप्रस्तुतमेरुप्रतीतेः

समासोक्तिरलङ्कारः । स च यमकेन संसृज्यते । जलोद्धतगतिर्वृत्तम्—'रसैर्जसजसा जलोद्धतगतिः' इति लक्षणात् ॥ २७ ॥

इस हिमालय पर सुर-रमणियों का निवास है । इसका मध्य भाग जो नितम्ब से उपमित होता है बहुत सुन्दर है । कल-कल नाद करते हुये बहुत से नद इस पर प्रवाहित होते हैं । पातालरक्षक, वासुकी के लिये अत्यन्त प्रिय और समस्त स्वादों को फीका करने वाली सुधा का इस पर वास है अर्थात् सुधा यहीं मिलती है और कहीं नहीं ॥ २७ ॥

श्रीमल्लताभवनमोषधयः प्रदीपाः शय्या नवानि हरिचन्दनपल्लवानि ।
अस्मिन्रतिश्रमनुदश्च सरोजवाताः स्मर्तुं दिशन्ति न दिवः सुरसुन्दरीभ्यः ॥

श्रीमदिति । अस्मिन्नद्रौ श्रीमत्समृद्धिमल्लता एव भवनम् । ओषधयस्तृणज्योतींष्येव प्रदीपाः । नवानि हरिचन्दनपल्लवानि सुरतरुकिसलयान्येव शय्याः । 'हरिचन्दनमाख्यातं गोशीर्षे सुरपादपे' इति विश्वः । रतिश्रमनुदः सुरतश्रमहारिणः सरोजवाताश्च । सुरसुन्दरीभ्यः । क्रियाग्रहणाच्चतुर्थी । दिवो दिवम् । 'अधीगर्थ—' इत्यादिना कर्मणि षष्ठी । स्मर्तुं न दिशन्ति । विस्मारयन्तीत्यर्थः । स्वर्गादप्यतिरिच्यतेऽसाविति भावः । अत्र पूर्वार्धे रूपकत्रयं स्फुटमेव ॥ २८ ॥

इस पर अनेक शोभा-सम्पन्न लता-कुञ्ज ही उत्तम भवन हैं । ओषधियाँ दीप-मालिकायें हैं । कल्पवृक्ष के नये-नये पल्लव तल्प हैं । कमलवन का स्पर्श करने के कारण रतिजनित खेद को दूर भगाने वाला वायु भी इस पर सतत वर्तमान है । जिससे अमर-ललनायें अपने स्वर्ग को भी भूल बैठीं हैं अर्थात् स्वर्ग में भोग-विलास की सम्पूर्ण सामग्री वर्तमान रहती हैं । इस हिमालय पर भी किसी वस्तु की न्यूनता नहीं है । अतः वे स्वर्ग से इसे अच्छा समझती हैं ॥ २८ ॥

ईशार्थमम्भसि चिराय तपश्चरन्त्या
यादोविलङ्घनविलोलविलोचनायाः ।
आलम्बताग्रकरमत्र भवो भवान्याः
श्च्योतन्निदाघसलिलाङ्गुलिना करेण ॥ २९ ॥

ईशार्थमिति । ईशायेतीशार्थं यथा तथेति क्रियाविशेषणम् । 'अर्थेन सह नित्यसमासः सर्वलिङ्गता च वक्तव्या' । चिराय चिरमम्भसि तपश्चरन्त्या अतएव यादोविलङ्घनविलोलविलोचनाया जलजन्तुविघट्टितचकितेक्षणायाः । तपसोऽप्यधिकं दृष्ट्वैव विलोभयन्त्येति भावः । यादांसि जलजन्तवः' इत्यमरः । भवान्या भवपत्न्याः । प्रयोगकालापेक्षोऽयं निर्देशः । 'इन्द्रवरुणभव–' इत्यादिना ङीप् । आनुगागमश्च । करैकदेशस्यापि करत्वादग्रश्चासौ करश्चेति समानाधिकरणे समासः । अतएव वामनः 'हस्ताग्राग्रहस्तयोर्गुणगुणिनोर्भेदाभेदौ' इति । तमग्रकरं भवः शिवः श्च्योतन्निदाघ-

सलिलाङ्गुलिना स्ववत्स्वेदाङ्गुलिनेति सात्त्विकोदयोक्तः। करेणात्र गिरावालम्बत गृहीतवान् । अत्राद्भुतातीतवृत्तान्तस्य प्रत्यक्षवदभिधानाद्भाविकालङ्कारः—'अतीतानागते यत्र प्रत्यक्षवदलक्षिते । अत्यद्भुतार्थकार्यत्वाद्भाविकं तदुदाहृतम् ॥' इति लक्षणात् । वसन्ततिलकावृत्तम्—'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति तल्लक्षणात् ॥२९॥

इसी (हिमालय) पर शिव के लिए बहुत समय तक जल में भवानी ने तपस्साधन किया था । उस समय जब कभी जलजन्तु परिस्फुरण करते थे तो उनके नेत्र सचकित हो जाते थे । (आशुतोष) शंकर ने भी अपने हाथ से इनके हाथ का अग्रभाग ग्रहण किया था । भगवान शंकर के हाथ की अङ्गुलियों से ग्रीष्म काल के स्वेद-बिन्दु टपक रहे थे ॥२९॥

येनापविद्धसलिलः स्फुटनागसद्मा देवासुरैरमृतमम्बुनिधिर्ममन्थे ।
व्यावर्तनैरहिपतेरयमाहिताङ्कः खं व्यालिखन्निव विभाति स मन्दराद्रिः ॥

येनेति । देवाश्चासुराश्च तैर्देवासुरैः । 'येषां च विरोधः शाश्वतिकः' इति नैकवद्भावः । येषां यतः कार्यत एव विरोधो न गोव्याघ्रादिवच्छाश्वतिक इत्याहुः । येन मन्दराद्रिणा । मन्थदण्डीकृतेनेति भावः । अपविद्धसलिलः क्षिप्तजलोऽत एव स्फुटं नागसद्म पातालं यस्मिन्सोऽम्बुनिधिरमृतं ममन्थे मथितः । मथ्नातेर्द्विकर्मकत्वाद्दुहादित्वादप्रधाने कर्मणि लिट् । अहिपतेः मन्थगुणीकृतस्य वासुकेरित्यर्थः । 'मन्थानं मन्दरं कृत्वा नेत्रं कृत्वा तु वासुकिम्' इति भारतवचनात् । व्यावर्तनैर्वेष्टनैराहिताङ्कः कृतचिह्नः सोऽयं मन्दराद्रिः खमाकाशं व्यालिखन्व्यापाटयन्निव विभाति । अत्रौत्प्रेक्ष्यानुपादानेनैव खलेखनोत्प्रेक्षणादनुपात्तगुणनिमित्ता क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा ॥ ३० ॥

जिस मन्दर गिरि से देवता और दैत्यों ने अमृत के लिये समुद्र का मन्थन किया था । (मन्थन करते समय) समुद्र से जल के उछलने के कारण पाताल लोक दृष्टिगोचर हो रहा था, और वह रज्जुभूत सर्पराज (वासुकि) के बारम्बार विवर्तन से अङ्कित होकर इस प्रकार विशोभित हो रहा है मानो आकाश-मण्डल का भेदन कर रहा है ॥ ३० ॥

नीतोच्छ्रायं मुहुरशिशिररश्मेरुस्रैरानीलाभैर्विरचितपरभागा रत्नैः ।
ज्योत्स्नाशङ्कामिह वितरति हंसश्येनी मध्येऽप्यह्नः स्फटिकरजतभित्तिच्छाया ।

नीतेति । इहाद्राविशिशिररश्मेरुष्णांशोरुस्रैर्मयूखैः संक्रान्तैरित्यर्थः । नीतोच्छ्रायमुच्छ्रायं नीता । विस्तारितेत्यर्थः । तथानीलाभैरसितप्रभै रत्नैरिन्द्रनीलैर्विरचितपरभागा । तत्संनिधानाल्लब्धोत्कर्षेत्यर्थः । हंस इव श्येनी श्वेतवर्णा । 'विशदश्येतपाण्डराः' इत्यमरः । 'वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः' इति श्येतशब्दान्ङीप् । तकारस्य च नकारः । स्फटिकानां रजतानां च भित्तयस्तासां छाया कान्तिः । अह्नो मध्ये । मध्याह्नेऽपीत्यर्थः । मुहुर्ज्योत्स्नाशङ्कां ज्योत्स्नाभ्रान्तिं वितरति जनयतीति भ्रान्तिमदलङ्कारः ॥ ३१ ॥

इस नगाधिराज पर स्फटिक और रजत के दीवार की छाया सूर्य्य की किरणों से संक्रान्त होकर ऊँची हो गई है इन्द्रनील मणियों की प्रभापुंज से उन्हें उत्कर्ष मिल गया है; और वे हंस की भाँति स्वच्छ हैं। जिससे उन्हें देख कर मध्याह्न काल में ही चन्द्रिका का मान होता है ॥ ३१ ॥

दधत इव विलासशालि नृत्यं मृदु पतता पवनेन कम्पितानि ।
इह ललितविलासिनीजनभ्रूगतिकुटिलेषु पयःसु पङ्कजानि ॥ ३२ ॥

दधत इति । इहाद्रौ मृदुं पतता मन्दं वहता पवनेन कम्पितानि पङ्कजानि ललितविलासिनीजनस्य भ्रूगतिवत्कुटिलेषु । ईषत्तरङ्गितेष्वित्यर्थः । पयःसु विलासशालि नृत्यं दधत इव । सविलासं नृत्यन्तीवेत्युत्प्रेक्षा । पुष्पिताग्रावृत्तम् ॥ ३२ ॥

इस (हिमालय) पर, सुन्दरियों के भौंह के समान कुटिल गति युक्त जल में मन्द २ चलते हुए वायु से कमल कम्पित हो रहे हैं ऐसा प्रतीत होता है मानो वे हाव-भाव पूर्वक नृत्य कर रहे हैं ॥ ३२ ॥

अस्मिन्नगृह्यत पिनाकभृता सलीलमाबद्धवेपथुरधीरविलोचनायाः ।
विन्यस्तमङ्गलमहौषधिरीश्वरायाः स्रस्तोरगप्रतिसरेण करेण पाणिः ॥३३॥

अस्मिन्निति । अस्मिन्नद्रौ पिनाकभृता शिवेनाधीरविलोचनायाश्चकितदृष्टेः । उरगदर्शनादिति भावः । ईश्वराया गौर्याः । 'स्थेशभास—' इत्यादिना वरच् । पुंयोगविवक्षाभावान्न ङीष् । आबद्धवेपथुः प्राप्तकम्प इति सात्त्विकोक्तिः । 'ट्वितोऽथुच्' इत्यथुच्प्रत्ययः । विन्यस्ता मङ्गलमहौषधिर्यवाङ्कुरादिर्यस्मिन्स पाणिः । स्रस्तो गलित उरग एव प्रतिसरः कौतुकसूत्रं यस्य तेन । 'आहुः प्रतिसरो हस्तसूत्रे माल्ये च मण्डने' इति विश्वः । करेण सलीलमगृह्यतेति देवस्य पार्वतीपरिणयवर्णनम् । ईषार्थमित्यत्र स्वनुग्रहमात्रोक्तिरित्यपौनरुक्त्यम् । भाविकमेवालङ्कारः ॥ ३३ ॥

इसी पर्वत पर पिनाक पाणि (शंकर) ने अपने हाथ से विलोलनेत्रा पार्वती के यवाङ्कुरादि शुभलक्षण-लक्षित तथा कम्पयुत पाणि का ग्रहण किया था । उस समय शंकर भगवान् के हाथ से कौतुकसूत्र इस प्रकार खिसक पड़ा था जैसे सर्प सरक जाय ॥ ३३ ॥

क्रामद्भिर्घनपदवीमनेकसंख्यैस्तेजोभिः शुचिमणिजन्मभिर्विभिन्नः ।
उस्राणां व्यभिचरतीव सप्तसप्तेः पर्यस्यन्निव निचयः सहस्रसंख्याम् ॥३४॥

क्रामद्भिरिति । घनपदवीमाकाशं क्रामद्भिर्व्यश्नुवानैरनेकसंख्यैः । परःसहस्रैरित्यर्थः । क्वचित् 'अनेकवर्णैः' इति पाठस्तु प्रामादिक एव । वैयर्थ्याद् व्याघाताच्चेति । शुचिमणिभ्यः स्फटिकेभ्यो जन्म येषां तैः । 'जन्माद्युत्तरपदो बहुव्रीहिर्व्यधिकरणोऽपीष्यते' इति वामनः । तेजोभिर्विभिन्नो मिश्रोऽत एव पर्यस्यन्प्रसर्पन्निहाद्रौ सप्तसप्तेः

सवितुरुस्राणां किरणानां निचयो निकरः। सहस्रमिति संख्या सहस्रसंख्या ताम्। स्वनियतामिति शेषः। व्यभिचरत्यतिक्रामतीवेत्युत्प्रेक्षा ॥ ३४ ॥

इस पर्वत पर स्फटिक मणि से परिस्फुरणकारिणी असंख्य किरणें, जो आकाशपथ में सञ्चरण कर रही हैं, सामूहिक रूप से, सप्ताश्व (सूर्य) की किरणों के समूह की सहस्र संख्या को अतिक्रमण करती हुई की तरह वृत्तपथानुसरण कर रही हैं ॥ ३४ ॥

व्यधत्त यस्मिन्पुरमुच्चगोपुरं पुरां विजेतुर्धृतये धनाधिपः।
स एष कैलास उपान्तसर्पिणः करोत्यकालास्तमयं विवस्वतः ॥३५॥

व्यधत्तेति। यस्मिन्कैलासे धनाधिपः कुबेरः पुरां विजेतुः शिवस्य धृतये सन्तोषायोच्चगोपुरमुन्नतपुरद्वारम्। 'पुरद्वारं तु गोपुरम्' इत्यमरः। पुरमलकाख्यां पुरीं व्यधत्त निर्मितवान्। तस्योच्चत्वादिति भावः। स एष कैलास उपान्तसर्पिणः प्रान्तचारिणो विवस्वतः सूर्यस्याकाले प्रसिद्धेतरकालेऽस्तमयं करोतीवेत्युत्प्रेक्षा। वस्तुतस्तु तत्कारणाभावाद्व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्योत्प्रेक्षा। सा चोपान्तवर्तितयाऽसम्बन्धे सम्बन्धलक्षणातिशयोक्त्युत्थापितेति विवेकः। अस्तमिति मकारान्तमव्ययम्। तस्य पश्चादन्तेनायशब्देन षष्ठीसमासः। वृत्तमुक्तम् ॥ ३६ ॥

जिस पर कुबेर ने त्रिपुर विजेता भगवान् शूली के सन्तोषार्थं बड़े-बड़े फाटकों से युक्त नगर निर्मित कराया था यह वही कैलास है जो समीप में समागत सूर्य भगवान् को समय के पहले ही अस्त की तरह बना देता है ॥ ३५ ॥

नानारत्नज्योतिषां सन्निपातैश्छन्नेष्वन्तःसानु वप्रान्तरेषु।
बद्धांबद्धां भित्तिशङ्कामुष्मिन्नावानावान्मातरिश्वा निहन्ति ॥ ३६ ॥

नानेति। अमुष्मिन्कैलासेऽन्तःसानु। सानुष्वित्यर्थः। विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। नानारत्नज्योतिषां अनेकमणिकान्तीनां सन्निपातैर्व्यतिकरैश्छन्नेषु छादितेषु। 'वा दान्तशान्त—' इत्यादिना निपातः। वप्रान्तरेषु कटकान्तरेषु बद्धांबद्धामभीक्ष्णबद्धाम्। दृढोत्पादितामित्यर्थः। 'नित्यवीप्सयोः' इति नित्यार्थे द्विर्भावः। नित्यमभीक्ष्णम्' इति काशिका। एकपदं चैतत्। भित्तिरिति सन्देहमावानावानभीक्ष्णमापतन्। आङ्पूर्वाद्वाधातोः शतृप्रत्ययः। द्विर्भावादि पूर्ववत्। मातर्यन्तरिक्षे गच्छतीति मातरिश्वा वायुः। कनिन्प्रत्ययः। 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' इत्यलुक्। निहन्ति निवर्तयति वायुसञ्चारान्भित्त्यभावोऽवधार्यत इत्यर्थः। अतो निश्चयान्तः सन्देहालङ्कारः। शालिनीवृत्तम् ॥ ३६ ॥

इस कैलाश के शिखर पर विविध रत्नों की प्रभा-पुञ्ज से ढूहों के अन्तराल आच्छादित होने पर सुदृढ़दीवाल की शङ्का उत्पन्न करते हैं। आकाश सञ्चारी वायु बार-बार सञ्चरित हो भित्ति की शङ्का का विच्छेद कर देता है ॥ ३६ ॥

रम्या नवद्युतिरपैति न शाद्वलेभ्यः श्यामीभवन्त्यनुदिनं नलिनीवनानि ।
अस्मिन्विचित्रकुसुमस्तबकाचितानां शाखाभृतां परिणमन्ति न पल्लवानि ॥

रम्येति । अस्मिन्नद्रौ । शादाः शष्पाणि सन्त्येष्विति शाद्वलास्तेभ्यः । 'शाद्वलः शादहरिते' इत्यमरः । 'नडशादाद् ड्वलच्' । रम्या नवा द्युतिर्नापैति । किन्तु नित्येत्यर्थः । नलिनीवनान्यनुदिनं सर्वदा श्यामीभवन्ति । न कदाचित्पाण्डुरीभवन्तीत्यर्थः । विचित्रकुसुमस्तबकैराचितानां व्याप्तानां शाखाभृतां तरूणां पल्लवानि न परिणमन्ति । न जीर्णानि भवन्तीत्यर्थः । सर्वदा नूतनमेव सर्वं वर्तत इत्यर्थः । अत्र प्रस्तुतस्यैव तत्तद्वस्तुगतकान्तिस्थैर्यरूपकार्यस्य वर्णनात्प्रस्तुतमिव कारणं कश्चिदसाधारणः कैलासस्य महिमावगम्यत इति पर्यायोक्तिरलङ्कारः । तदुक्तम्—'कारणं गम्यते यत्र प्रस्तुतं कार्यवर्णनात् । प्रस्तुतत्वेन सम्बन्धस्तत्पर्यायोक्तमुच्यते ॥' इति ॥ ३७ ॥

इस कैलास पर शाद्वल (तृण) समूह अपने अभिनव रमणीयता का परित्याग नहीं करता (सर्वदा हरा-भरा रहता है) नील कमल के वन अनुदिन अपनी नीलिमा की वृद्धि करते रहते हैं; (वे दिन गत होने के कारण सूख नहीं जाते) और रंग-विरंग के पुष्प समूह से समन्वित वृक्षों के पत्ते भी जीर्ण-शीर्ण हो धराशायी नहीं बनते (यहाँ हिमालय पर वृक्ष सदा फलशाली होते हुए अपने पत्तों का त्याग नहीं करते) ॥ ३७ ॥

परिसरविषयेषु लीढमुक्ता हरिततृणोद्गमशङ्कया मृगीभिः ।
इह नवशुककोमला मणीनां रविकरसंवलिताः फलन्ति भासः ॥३८॥

परिसरेति । इहाद्रौ परिसरविषयेषु पर्यन्तदेशेषु । 'विषयो देशे' इति निपातः । मृगीभिर्हरिततृणोद्गमशङ्कया नीलतृणाङ्कुरभ्रान्त्येति भ्रान्तिमदलङ्कारः । लीढाः पूर्वमास्वादिताः पश्चान्मुक्ताः लीढमुक्ताः । दग्धप्ररूढ इत्यादिवत् 'पूर्वकाल—' इत्यादिना समानाधिकरणसमासः । नवशुककोमलाः शुकसवर्णाः मणीनां मरकतमणीनां भासो रविकरैः संवलिता मिश्रिताः सत्यः फलन्ति सम्मूर्च्छन्ते । वर्धन्त इति यावत् ॥ ३८ ॥

इस कैलास के आस-पास की भूमि पर, शुक के बच्चों के सदृश मनोरम मरकत मणि की किरणें अभिनव हरित तृणाङ्कुर की सी व्यक्त होती हैं । उन्हें हरिणियाँ घास समझकर खाने के लिये मुख में लेती हैं फिर छोड़ देती हैं । वे किरणें सूर्य्य की किरणों से सम्वलित होकर अधिक प्रकाश धारण कर लेती हैं ॥ ३८ ॥

उत्फुल्लस्थलनलिनीवनादमुष्मादुद्धूतः सरसिजसम्भवः परागः ।
वात्याभिर्वियति विवर्तितः समन्तादाधत्ते कनकमयातपत्रलक्ष्मीम् ॥३९॥

उत्फुल्लेति। अस्मिन्नद्रौ वात्याभिर्वातसमूहैः। 'वातादिभ्यो यत्' इति यत्प्रत्ययः। अमुष्माद्दृश्यमानादुत्फुल्लस्थलनलिनीवनात्। जलपतितस्य परागस्योत्थानासम्भवात्स्थलग्रहणम्। उत्फुल्लसंफुल्लयोरुपसंख्यानान्निष्ठानत्वम्। उद्धूत उत्थापितो वियति समन्ताद्विवर्तितः परिमण्डलितः। अन्तराले तु दण्डायमानं एवेति भावः। सरसिजसम्भवः पद्मोद्भवः परागः। रूढ्यभिप्रायेणात्र सरसिजशब्दप्रयोगो द्रष्टव्यः। कनकमयातपत्रलक्ष्मीमाधत्तेऽनुकरोति। अत्र परागस्यातपत्रलक्ष्मीसम्बन्धासम्भवात्तत्सदृशीं लक्ष्मीमिति प्रतिबिम्बेनाक्षेपादसम्भवद्विषमं सम्बन्धेयं निदर्शना। तदुक्तम्—'असम्भवद्धर्मयोगादुपमानोपमेययोः। प्रतिबिम्बक्रिया गम्या यत्र सास्यान्निदर्शना॥' इति॥ ३९॥

(यक्षने कहा)—यह जो स्थल कमलों का वन दृष्टिगोचर हो रहा है वहाँ से पद्मपराग के वात्या (बवंडर) के द्वारा उड़ाये जाने पर आकाश मण्डलाकार बन जाता है उस समय सुवर्णसूत्र निर्मित आतपत्र (छाता) की शोभा का अनुकरण करने लगता है॥

इह सनियमयोः सुरापगायामुषसि सयावकसव्यपादरेखा।
कथयति शिवयोः शरीरयोगं विषमपदा पदवीं विवर्तनेषु॥ ४०॥

इहेति। इहाद्रावुषसि प्रभाते सुरापगायां लक्षणया तत्कूले सयावका सालक्तका सव्यपादस्य रेखा वामचरणमुद्रा यस्यां सा। 'यावोऽलक्तो द्रुमामयः' इत्यमरः। तथा विषमाणि महदल्पानि पदानि यस्यां सा विवर्तनेषु प्रदक्षिणक्रियासु पदवी। शिवयोः प्रदक्षिणपद्धतिरित्यर्थः। सनियमयोः सन्ध्यायां प्रणमतोरित्यर्थः। शिवा च शिवश्च तयोः शिवयोरुमाशङ्करयोः। 'पुमान्स्त्रिया' इत्येकशेषः। शरीरयोगमर्धाङ्गसङ्घटनारूपं कथयति। सनियमयोरिति नियमविषयेऽपि विरहासहाविह विहरतः शिवाविति भावः। अत्र पदवीविशेषणपदार्थयोः कथनं प्रति हेतुत्वोक्त्या काव्यलिङ्गमलङ्कारः।

इस कैलास पर अत्यन्त प्रभात काल में (सुरनदी) सुरधुनी (गङ्गा) के तट पर सन्ध्या वन्दन कृत्याङ्गभूत प्रदक्षिण के कारण जो उमा और शङ्कर के पद चिन्ह व्यक्त होते हैं उनमें से वाम चरण रेखा महावर से रंगी हुई और विषमा है अर्थात् वाम पद चिन्ह रक्त वर्ण और छोटा है। दक्षिण पद चिन्ह बड़ा है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि शिव और पार्वती अर्द्धाङ्गी स्वरूप हैं (शिव का वामाङ्ग पार्वती रूप और दक्षिणाङ्ग शिव स्वरूप)॥ ४०॥

सम्मूर्च्छतां रजतभित्तिमयूखजालैरालोलपादपलतान्तरनिर्गतानाम्।
घर्मद्युतेरिह मुहुः पटलानि धाम्नामादर्शमण्डलनिभानि समुल्लसन्ति॥४१॥

संमूर्च्छतामिति। इहाद्रौ रजतभित्तिमयूखजालैः संमूर्च्छतां बहुलीभवतामा-

लोलानां पादपलतानां तरुशाखानामन्तरेषु रन्ध्रेषु निर्गतानां प्रसृतानां घर्मद्युते रुष्णांशोर्धाम्नां तेजसामादर्शमण्डलनिभानि दर्पणबिम्बसदृशानीत्युपमालङ्कारः । पटलानि मण्डलानि मुहुर्वारम्वारं समुल्लसन्ति पुनः पुनः स्फुरन्ति न तु सातत्येन । लतानामालोलत्वाभावात् । तच्च नान्यत्र मृत्पाषाणादिप्राये सम्भवतीति भावः ॥४१॥

इस कैलास शिखर पर रजतभित्ति (चाँदी की दीवार) के किरणपुञ्जों से उत्कर्ष शाली, शनैः शनैः कम्पित होते हुए वृक्षों की शाखाओं के रन्ध्र से छन-छनकर निकले हुए सूर्य्य की किरणों के समूह, जो दर्पणानुकारी हैं अधिकाधिक परिशोभित हो रहे हैं ॥ ४१ ॥

शुक्लैर्मयूखनिचयैः परिवीतमूर्तिर्वप्राभिघातपरिमण्डलितोरुदेहः ।
शृङ्गाण्यमुष्य भजते गणभर्तुरुक्षा कुर्वन्वधूजनमनःसु शशाङ्कशङ्काम् ॥४२॥

शुक्लैरिति । शुक्लैर्मयूखनिचयैः शुभ्रकिरणसमूहैः परिवीतमूर्तिर्व्याप्तदेहः । वप्राभिघातेन वप्रक्रीडया परिमण्डलितो वर्तुलीकृत उरुदेहो बृहच्छरीरं यस्य तथोक्तः । गणभर्तुः प्रमथनाथस्योक्षा वृषभः 'उक्षानड्वान्बलीवर्द ऋषभो वृषभो वृषः' इत्यमरः । वधूजनमनःसु शशाङ्कशङ्कां चन्द्रभ्रान्तिं कुर्वन् । तेषां मौग्ध्यादिति भावः । अमुष्याद्रेः शृङ्गाणि भजते सेवते । अत्र शङ्काशब्दस्य सन्देहार्थत्वे सन्देहालङ्कारः । भ्रान्तिपरत्वे भ्रान्तिमदलङ्कारः । यथेच्छसि तथास्तु । नवोक्तविशेषणोत्थेन काव्यलिङ्गेनाङ्गाङ्गिभावेन सङ्कीर्यते ॥ ४२ ॥

जब यह प्रमथाधिप (शंकर) का महोक्ष (नन्दी) शुभ्र किरण पुञ्जों से धवलित होकर वप्र-क्रीडा-प्रसक्ति के कारण अपने अङ्गों को संवृत करके इस कैलास के शिखरों का आश्रय लेता है उस समय युवति जनों के मन में शशलांच्छन (चन्द्र) का भान होने लगता है ॥

सम्प्रति लब्धजन्म शनकैः कथमपि लघुनि
क्षीणपयस्युपेयुषि भिदां जलधरपटले ।
खण्डितविग्रहं बलभिदो धनुरिह विविधाः
पूरयितुं भवन्ति विभवः शिखरमणिरुचः ॥ ४३ ॥

सम्प्रतीति । इहाद्रौ विविधा नानावर्णाः शिखरमणिरुचः सम्प्रति शरदीत्यर्थः । लघुन्यगुरुणि । कुतः क्षीणपयस्यत एव भिदां भेदम् । 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' इत्यङ्प्रत्ययः । उपेयुषि गते जलधरपटले मेघमण्डले कथमपि शनकैर्लब्धजन्म । उत्पन्नमित्यर्थः । अत एव खण्डितविग्रहं छिन्नस्वरूपं बलभिद इन्द्रस्य धनुः पूरयितुं विभवः समर्था भवन्ति । अत्रेन्द्रधनुषो मणिरुचीनामसम्बन्धे सम्बन्धकथनादतिशयोक्तिरलङ्कारः । वंशपत्रपतितं वृत्तम्—'दिङ्मुनि वंशपत्रपतितं भरनभरलगैः' इति लक्षणात् ॥ ४३ ॥

इस शरत्काल में जब मेघमण्डल जलरहित होकर खण्ड-खण्ड हो जाता है उस समय इन्द्र धनुष जो आकाश में प्रायः कम उदित होता है अत्यन्त सूक्ष्म और खण्डित सा दृष्टिगोचर होता है। इस कैलास शिखर के विविध रत्नों की कान्ति उसको पूर्ण कर देती है॥

स्नपितनवलतातरुप्रवालैरमृतलवस्रुतिशालिभिर्मयूखैः ।
सततमसितयामिनीषु शम्भोरमलयतीह वनान्तमिन्दुलेखा ॥ ४४ ॥

स्नपितेति । इहाद्रौ शम्भोरिन्दुलेखा । स्नपितानि सिक्तानि नवानि लतानां तरूणां च प्रवालानि यैस्तैः अमृतलवस्रुत्यामृतबिन्दुनिःस्यन्देन शालन्ते ये तैर्मयूखैः सततं सर्वकालमसितयामिनीषु कृष्णपक्षरात्रिष्वपि वनान्तममलयति धवलयति । अन्यत्र नैतदस्तीति व्यतिरेको व्यज्यते ॥ ४४ ॥

इस कैलास पर भगवान् शंकर के शिरःस्थित चन्द्रलेखा अपनी पीयूष विन्दुस्रावी किरणों से, जो छोटे-छोटे वृक्ष और नूतन लताओं का सिञ्चन करती है कृष्ण पक्ष की रात्रि में वनान्त प्रदेश को धवलित कर देती है ॥ ४४ ॥

क्षिपति योऽनुवनं विततां बृहद्बृहतिकामिव रौचनिकीं रुचम् ।
अयमनेकहिरण्मयकन्दरस्तव पितुर्दयितो जगतीधरः ॥४५॥

क्षिपतीति । अय योऽद्रिरनुवनं विततां रौचनिकीं रुचम् । सौवर्णी कान्तिमित्यर्थः । रोचनया रक्तां रौचनिकीम् । 'लाक्षारोचनशकलकर्दमाट्ठक्' इति ठ । 'टिड्ढाणञ्–' इत्यादिना ङीप् । उत्प्रेक्ष्यते–बृहती चासौ बृहतिका च तां महोत्तरासङ्गमिव । द्वौ प्रावारोत्तरासङ्गौ समौ बृहतिका तथा' इत्यमरः । क्षिपति प्रसारयति । अनेका हिरण्मय्यः कन्दरा यस्य सः । हिरण्मयशब्दो 'दाण्डिनायन–' इत्यादिना निपातनात्साधुः । अयम् पुरोवर्ती गिरिरित्यर्थः । तव पितुरिन्द्रस्य दयितः प्रियः । जगत्या धरो जगतीधरः । यस्ते गन्तव्य इन्द्रनीलाख्य इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

यह (इन्द्रनील) नाना प्रकार की सुवर्णमयी कन्दरा शाली, धराधर, (पहाड़ आपके पिता इन्द्र का परम मित्र है जो अपनी सुनहली दीप्ति को खूब फैलाकर लम्बी-चौड़ी चादर (उत्तरीय) के समान प्रत्येक वनों के ऊपर डाल देता है ॥ ४५ ॥

सक्तिं जवादपनयत्यनिले लतानां वैरोचनैर्द्विगुणिताः सहसा मयूखैः ।
रोधोभुवां मुहुरमुत्र हिरण्मयीनां भासस्तडिद्विलसितानि विडम्बयन्ति ॥

सक्तिमिति । अमुत्रामुष्मिन्नद्रावनिले जवाज्झटिति लतानां सक्तिमन्योन्यसङ्गमपनयति सति । सहसा हठाद्वैरोचनैः सावित्रैर्मयूखैर्द्विगुणा द्विरावृत्ताः कृता इति द्विगुणिताः । 'गुणस्त्वावृत्तिशब्दादिष्विन्द्रियामुख्यतन्तुषु' इति वैजयन्ती । हिरण्मयीनां हिरण्यविकाराणाम् । 'दाण्डिनायन–' इत्यादिना निपातनात्साधुः । रोधो-

भुवां तटभुवां भासो मुहुस्तडिद्विलसितानि विडम्बयन्ति । अनुकुर्वन्तीत्यर्थः । उपमालङ्कारः ॥ ४६ ॥

इस (इन्द्रनील गिरि) पर वायु प्रबल वेग से चल कर लताओं की परस्पर संसक्ति को दूर कर देता है अतः सुवर्णमयी तट भूमि एकाएक सूर्य्य भगवान् की किरणों से द्विगुणित हो विजली की छटा को मात करती है (अनुकरण करती है) ॥ ४६ ॥

कषणकम्पनिरस्तमहाहिभिः क्षणविमत्तमतङ्गजवर्जितैः ।
इह मदस्नपितैरनुमीयते सुरगजस्य गतं हरिचन्दनैः ॥ ४७ ॥

कषणेति । इहाद्रौ कषणेन कण्डूयनेन यः कम्पस्तेन निरस्ता महाहयो महासर्पा येभ्यस्तैः । क्षणं विमत्तमतङ्गजवर्जितैर्मत्तमतङ्गजरहितैः । कुतः । मदस्नपितैः । ऐरावतमदसिक्तैरित्यर्थः । 'मितां ह्रस्वः' इति ह्रस्वः । हरिचन्दनैश्चन्दनद्रुमैः सुरगजस्यैरावतस्य गतं प्राप्तिरनुमीयते । हरिचन्दनविशेषणैः काव्यलिङ्गमुन्नेयम् ॥ ४७ ॥

इस पर्वत पर चन्दनद्रुम, ऐरावत के कण्डू-प्रशान्त्यर्थ संघर्षण से भीषण भुजङ्गमों (महासर्पों) से रहित हो गये हैं । क्षणमात्र के लिये मदोन्मत्त हाथियाँ भी इनसे दूर हो गये हैं । ये ऐरावत के मद से भींगे हैं । इनके देखने से अनुमान होता है कि इस मार्ग से देवताओं का हाथी (ऐरावत) गमन किया है ॥ ४७ ॥

जलदजालघनैरसिताश्मनामुपहतप्रचयेह मरीचिभिः ।
भवति दीप्तिरदीपितकन्दरा तिमिरसंवलितेव विवस्वतः ॥ ४८ ॥

जलदेति । इहास्मिन्नद्रौ जलदजालघनैर्मेघवृन्दसान्द्रैरसिताश्मनामिन्द्रनीलानां मरीचिभिर्दीधितिभिः । 'भानुः करो मरीचिः स्त्रीपुंसयोर्दीधितिः स्त्रियाम्' इत्यमरः । उपहतप्रचया विघट्टितसङ्घाता अतएवादीपितकन्दरा अप्रकाशितगह्वरा विवस्वतो दीप्तिस्तिमिरैः संवलिता संहता व्यामिश्रितेव भवतीत्युत्प्रेक्षा ॥ ४८ ॥

(इस इन्द्रनील पर) मेघ माला के सदृश, इन्द्रनील मणि की किरणों से सूर्य्य की किरणें परस्पर संघटित होकर कन्दराओं को प्रकाशित नहीं कर सकती हैं और इस तरह दीख पड़ती हैं, मानो अन्धकार से मिली हुई हैं ॥ ४८ ॥

भव्यो भवन्नपि मुनेरिह शासनेन
क्षात्रे स्थितः पथि तपस्य हतप्रमादः ।
प्रायेण सत्यपि हितार्थकरे विधौ हि
श्रेयांसि लब्धुमसुखानि विनान्तरायैः ॥ ४९ ॥

भव्य इति । इहाद्रौ भव्यः शान्तो भवन्नपि मुनेर्व्यासस्य शासनेनेन्द्राराधनरूपे क्षात्रे पथि क्षत्रियमार्गे स्थितः । गृहीतशस्त्र एवेत्यर्थः । हतप्रमादोऽप्रमत्तः सन्

तपस्य तपश्चर्यां कुरु । तपस्येति 'कर्मणो रोमन्थतपोभ्यां वर्त्तिचरोः' इति क्यङ् । तदन्ताद्धातोर्लोट् । न च सर्वभूतहितकारिणो मे प्रमादः किं करिष्यतीति विश्वसितव्यमित्यर्थान्तरन्यासेनाह—हि यस्मात्प्रायेण बाहुल्येन । 'प्रायो वयस्यनशने मृतौ बाहुल्यतुल्ययोः' इति हेमचन्द्रः । हितमर्थं करोतीति हितार्थंकरे विधौ व्यापारे सति । अन्तरायैर्विघ्नैर्विना श्रेयांसि लब्धुमसुखानि । अशक्यानीत्यर्थः । अतएव 'शकधृष—' इत्यादिना समानकर्तृकेषु तुमुन् । अकारणवैरिणः सर्वत्र सर्वस्यापि सन्तीति भावः ॥

(यक्षने अर्जुन से कहा)—आप सभ्यता धारण करते हुवे मां व्यास मुनि के निर्देश से क्षात्रधर्म का पालन करते हुए अर्थात् शस्त्रग्रहण करते हुए सावधान होकर तपश्चर्या कीजिये । यद्यपि अनुकूल (कल्याणकारी) भाग्य होते हुए भी विघ्न बाधाओं के बिना कल्याण प्राप्त करना कठिन है । अर्थात् कल्याण प्राप्त होने में अनेक प्रकार के विघ्न उपस्थित होते हैं अतः विघ्न निवारणार्थ शस्त्र धारण करना आपके लिये अत्यावश्यक है ॥ ४९ ॥

मा भूवन्नपथहृतस्तवेन्द्रियाश्वाः
सन्तापे दिशतु शिवाः शिवां प्रसक्तिम् ।
रक्षन्तस्तपसि बलं च लोकपालाः
कल्याणीमधिकफलां क्रियां क्रियासुः ॥ ५० ॥

मा भूवन्निति । तवेन्द्रियाण्येवाश्वास्ते । अपथेन हरन्तीत्यपथहृतो मा भूवन् । त्वामपथं मा निनीषुरित्यर्थः । 'माङि लुङ्' इत्याशीरर्थे लुङ् । सन्तापे तपःक्लेशे सति शिवः शिवां साधीयसीं प्रसक्तिं प्रवृत्तिमुत्साहं दिशतु । किञ्चेति चार्थः लोकपाला इन्द्रादयस्तपसि विषये बलं शक्तिं रक्षन्तो वर्धयन्तः सन्तः कल्याणीं साध्वीं क्रियामनुष्ठानमधिकफलां क्रियासुः कुर्वन्तु । करोतेराशिषि लोट् ॥ ५० ॥

आपके इन्द्रिय वर्ग घोड़ों के सदृश उन्मार्ग गामी नहीं हैं आप की कष्टावस्था में शंकर भगवान् कार्य्यसाधन समर्थ उत्साह प्रदान करें । लोकपाल आपके तपःसाधन में शक्ति की अभिवृद्धि करते हुए आपके शोभन कर्तव्यानुष्ठान को सफल बनावें ॥ ५० ॥

इत्युक्त्वा सपदि हितं प्रियं प्रियार्हे
धाम स्वं गतवति राजराजभृत्ये ।
सोत्कण्ठं किमपि पृथासुतः प्रदध्यौ
संधत्ते भृशमरतिं हि सद्वियोगः ॥ ५१ ॥

इतीति । प्रियार्हे राजराजभृत्य इति पूर्वोक्तम् । हितं प्रियं वचनमिति शेषः । उक्त्वा सपदि स्वं स्वकीयं धाम स्थानं गतवति सति । पृथासुतोऽर्जुनः सोत्कण्ठं सौत्सुक्यं किमपि प्रदध्यौ चिन्तयामास । तथाहि । सद्वियोगः सुजनवियोगो भृशमरतिं व्यथां सन्धत्ते । करोतीत्यर्थः । अर्थान्तरन्यासः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार प्रिय और हितकर वाक्य कहकर, प्रेमपात्र कुबेरानुचर (यक्ष) के चले जाने पर, अर्जुन ने उत्कण्ठा पूर्वक क्षणभर के लिये यक्ष का आध्यान किया क्योंकि सुजन-वियोग दुःखदायी होता ही है ॥ ५१ ॥

तमनतिशयनीयं सर्वतः सारयोगा-
दविरहितमनेकेनाङ्कभाजा फलेन ।
अकृशमकृशलक्ष्मीश्चेतसाशंसितं स
स्वमिव पुरुषकारं शैलमभ्याससाद ॥ ५२ ॥

इति भारविकृतौ महाकाव्ये किरातार्जुनीये पञ्चमः सर्गः ।



तमिति । अकृशाः पूर्णा लक्ष्म्यः शोभा यस्य सोऽकृशलक्ष्मीरिति बहुवचनाद्बहुव्रीहिः । एवं च 'उरःप्रभृतिभ्यः—' इति कप्प्रत्ययानवकाशः । तत्र लक्ष्मीशब्दस्यैकवचनान्तस्यैव पाठात् । नापि 'नद्यृतश्च' इत्यस्यावकाशः । उरःप्रभृतिपाठसामर्थ्यादेव शैषिकस्तु वैभाषिक इत्यविरोधः । सोऽर्जुनः सर्वतः सर्वत्र सारयोगादुत्कृष्टबलप्रयोगात् । 'सारो बले स्थिरांशे च न्याय्ये क्लीबं वरे त्रिषु' इत्युभयत्राप्यमरः । अनतिशयनीयमनतिक्रमणीयमनेकेन बहुनाङ्कभाजा समीपं गतेन । शीघ्रभाविनेति यावत् । फलेन कार्यसिद्ध्याऽविरहितमशून्यम् । कार्यसिद्धेरवश्यं साधकमित्यर्थः । अकृशमतनुं चेतसाशंसितं प्राप्तुमिष्टं शैलमिन्द्रनीलं स्वमात्मीयम् । पुरुषस्य कारः कर्म तं पुरुषकारमुक्तविशेषणविशिष्टं पौरुषमिवाभ्याससाद प्राप्तवान् । मालिनीवृत्तम् ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां किरातार्जुनीय-काव्यव्याख्यायां घण्टापथसमाख्यायां पञ्चमः सर्गः समाप्तः ।



जिस प्रकार अर्जुन का पुरुषार्थ सर्वथा अनतिक्रमणीय, आशुभावी, अनेक प्रकार के फल से युक्त और महान् था उसी प्रकार इन्द्रनील पहाड़ भी था, सर्वथा बलप्रयोग से उसे कोई क्रान्त नहीं कर सकता था । उस पर रहकर साधन करने वाले पुरुष की अनेक-विधि फल-सिद्धि आशु भाविनी थी । बहुत दिनों से अर्जुन, उस (पहाड़) को चित्त से चाहते थे । उसी इन्द्रनील पर्वत का आश्रय (अवलम्ब) उन्होंने (पृथा नन्दन) ने लिया । उस क्षण वे भी पूर्ण तया सुशोभित हो रहे थे ॥ ५२ ॥

पञ्चम सर्ग समाप्त



चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन के परीक्षोपयोगी ग्रन्थ

रघुवंशमहाकाव्यम् । "इन्दुकला" संस्कृत हिन्दी ...
पं० वैद्यनाथ झा । प्रथम सर्ग ३—००,
षष्ठ सप्तम सर्ग ६—०० तृतीय सर्ग ४—

विक्रमाङ्कदेव चरितम् । सटिप्पण 'चन्द्रकला' संस्कृत-हिन्दी व्याख्योपेतम् । आचार्य श्री शेषराज शर्मा रेग्मी । प्रथम सर्ग ६—

अलङ्कारसारमञ्जरी । 'इन्दुश्री' संस्कृत हिन्दी व्याख्योपेतम् । पं० श्री हरेकान्त मिश्र साहित्याचार्य २—

काव्यदोष । काव्यदोष एक अनुशीलन । ... अग्रवाल ३०—

...व्यमीमांसा । संस्कृत-हिन्दी ... ३—

शिशुपालवधम् । सुधा संस्कृत ... टीका सहित ... सर्ग ...

कुमारसम्भवमहाकाव्यम् । संस्कृत-हिन्दी टीका । १—५ सर्ग, प्रत्येकसर्ग २—
षष्ठ सर्ग ५—००, ६—७ सर्ग ७—००, १—७ सर्ग १६—

दशकुमारचरितम् । संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित । पूर्वपीठिका ४—
विश्रुतचरित १—२५ सम्पूर्ण २५—

किरातार्जुनीयम् । 'घण्टापथ' संस्कृत तथा 'प्रकाश' हिन्दी टीकासहित
सम्पूर्ण २०—०० १—५ सर्ग ४—०

छन्दोमञ्जरी । 'प्रभा'-'रुचिरा' संस्कृत-हिन्दी टीका सहित १०—०

सूक्तिसंग्रहः । राक्षसकृतः । संस्कृत हिन्दी टीका सहित ३—०

पिंगलछन्दः सूत्रम् । 'हलायुधवृत्ति' तथा 'कादम्बिनी' हिन्दी व्याख्या २—५

नैषधमहाकाव्यम् । 'जीवातु' 'मणिप्रभा' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित
१ला सर्ग ३—५०, १—३ सर्ग ६—००, १—५ सर्ग १०,
१०—११ सर्ग १०·००, पूर्वार्ध २५·००, ... २५...

काव्यदोपिका । संस्कृत-हिन्दी टीका ...

रसङ्गाधररहस्य । प्रश्नोत्तरी । प० मदनमोहन ...

ध्वन्यालोकरहस्यम् । प्रश्नोत्तरी । पं० शोभितमि...

रघुवंशमहाकाव्यम् । चन्द्रकला संस्कृत-हिन्दीटीका...

, अनेक प्रकार के
, बलप्रयोग से उसे
...रुष की अनेक-विधि
...ड़) को चित्त से चाहे
...नन्दन) ने लिया । ...

अन्यप्राप्तिस्थान—चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय, कचौड़ीगली, वाराणसी

